हिन्दी भाषा और नागरी लिपि
का
विकास

लेखक

बाल गोविन्द मिश्र

एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत),

साहित्यरत्न

अध्यक्ष हिन्दी विभाग

महाराणा प्रताप कालेज,

गोरखपुर

UNIVERSITY LIBRARY
3 APR 1959
ALLAHABAD

मूल्य ३॥)

Hindi Book Depot
12, University Road
Allahabad

प्रकाशक
शिवानन्द शर्मा,
एम० ए०
२१-सी, मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद—२

15 9639

प्रथमावृत्ति १९५७

420-H
21

मुद्रक
हिन्दी साहित्य प्रेस
इलाहाबाद।

पं० भैरवनाथ झा
कुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्रख्यात शिक्षा शास्त्री, गम्भीर विद्वान
एवं कुशल प्रशासक

पूज्यपाद पण्डित भैरवनाथ झा को

श्रद्धा संवलित हृदय से
सादर समर्पित।

प्रस्तुत ग्रंथ

नूतन वैज्ञानिक पद्धति से भारतीय आर्यभाषाओं के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में हमारे देश में अभी बहुत प्रगति नहीं हुई है। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह है कि सामान्य भाषा-विज्ञान तथा भारतीय आर्यभाषाओं के तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन का विषय आज भी हमारे महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में नितान्त उपेक्षित है। कलकत्ता तथा पूना विश्वविद्यालयों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी इसे, स्वतंत्र विषय के रूप में, पाठ्यक्रम में स्थान नहीं मिला है। परिणामतः इस विषय के प्रति जिज्ञासा और अभिरुचि का प्रायः अभाव ही रहता है। ऐसे विरले ही लोग होते हैं, जो विशिष्ट तथा अधिकारी विद्वानों के सम्पर्क से, एवं अपने स्वतंत्र अध्ययन से इस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इधर डेकन कालेज, पूना तथा हिन्दी रिसर्च इंस्टीट्यूट, आगरा, में इस विषय के अध्ययन तथा शोध आदि के लिए व्यवस्था की गई है; यह एक शुभ संकेत है। अब समय आ गया है कि विश्वविद्यालय इस ओर अपना ध्यान उन्मुख करें और भाषाशास्त्र तथा भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के विषय को अपने यहाँ उचित स्थान देकर इसकी प्रगति में योग दें।

नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में अभी तक केवल बंगला, लहंदा, पंजाबी, गुजराती, मराठी, कोंकणी और हिन्दी (परिनिष्ठित-हिन्दी) का अध्ययन ही अधिकारी विद्वानों के द्वारा सम्पन्न किया गया है। हिन्दी के ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करने वाले केवल तीन उल्लेखनीय ग्रंथ ही अभी तक प्रकाशित हुए हैं :—'हिन्दी भाषा'—डा० श्याम सुन्दर दास, 'हिन्दी भाषा का इतिहास'—डा०

धीरेन्द्र वर्मा और 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डा० उदय नारायण तिवारी। 'हिन्दी भाषा' सन् १९२६ ई० के लगभग प्रकाशित हुई थी। इस कृति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें ऐतिहासिक और वर्णनात्मक अंश अलग अलग नहीं रह पाए हैं। डा० वर्मा का ग्रंथ सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ था। उस समय से आज तक भारतीय आर्य भाषाओं के संबंध में न जाने कितनी नई उद्भावनाएँ और शोधें हो चुकी हैं। डा० तिवारी का ग्रंथ अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। यह निस्संदेह एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें विद्वान् लेखक ने हिन्दी भाषा के उद्भव और विकास का बड़ा विशद, वैज्ञानिक और प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन सभी ग्रंथों के रहते हुए भी, मैंने अपने एतद् विषयक अध्यापन के सिलसिले में यह अनुभव किया कि हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करने वाले छात्रों तथा सामान्य जिज्ञासु पाठकों के लिए अभी एक ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता है, जिसमें यथासम्भव विवाद ग्रस्त, जटिल एवं अनावश्यक तथ्यों को बचाते हुए, सभी ज्ञातव्य बातों का उल्लेख हो। इस ग्रंथ के प्रणयन में मेरा यही प्रमुख उद्देश्य रहा है।

प्रस्तुत कृति में ग्यारह प्रकरण हैं। प्रथम दो प्रकरण तो विषय-प्रवेश के हैं; पहले में भाषा और भाषा के विविध स्वरूपों का विवेचन किया गया है और दूसरे में पारिवारिक वर्गीकरण की पद्धति का उल्लेख करते हुए संसार की भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण किया गया है। भारोपीय परिवार के वर्गीकरण में लेखक ने आधुनिकतम शोधों का उपयोग किया है। आजकल हित्ती भाषा को मूल-भारोपीय की एक शाखा न मानकर उसे मूल-भारोपीय के साथ साथ विकसित माना जाता है और दोनों के मूल में एक मूल भारोपीय-हित्ती भाषा (Proto-Indo-Hittaite) स्वीकार की जाती है। मैंने भारोपीय परिवार का वर्गीकरण इसी आधार पर

किया है। तीसरे प्रकरण में प्राचीन वैदिक युग से अपभ्रंश युग तक का भारतीय आर्यभाषाओं का विकास उपस्थित किया गया है। इस प्रकरण के प्रारम्भ में मैंने आर्यों के मूल-निवासस्थान, पश्चिम और पूर्व की ओर उनका प्रसार तथा भारत में उनका प्रवेश आदि प्रज्ञशास्त्रीय विषयों का संक्षेप में वर्णन किया है। मेरा विश्वास है कि भारोपीय भाषाओं के विकास तथा उनके पारस्परिक संबंध को समझने के लिए इन विषयों की जानकारी आवश्यक है। चौथे प्रकरण के पूर्वार्ध में अवहट्ठ के संबंध में कई नए तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है और अवहट्ठ से नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के उदय तथा विकास का तारतम्य स्थापित किया गया है। इसी के उत्तरार्ध में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण तथा संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पाँचवें प्रकरण में हिन्दी की बोलियों के क्षेत्र, विस्तार, महत्व आदि पर विचार करते हुए उनकी व्याकरणिक विशेषताओं का भी उद्घाटन किया गया है। इस प्रकरण में लेखक को डा० ग्रियर्सन के भाषा-सर्वे तथा डा० तिवारी के ग्रन्थ से बड़ी सहायता मिली है। छठे प्रकरण में पिछले आठ सौ वर्षों की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में हिन्दी के ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा दी गई है और हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी पर विचार किया गया है। इस संबंध में पं० चन्द्रबली पाण्डेय के ग्रन्थों तथा डा० तिवारी के उल्लेखों के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। सातवें प्रकरण में हिन्दी शब्द-समूह के विभिन्न तत्वों तथा उपादानों का विश्लेषण किया गया है। आठवें अध्याय में ध्वनियों की उत्पत्ति, उनके वर्गीकरण आदि का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए हिन्दी ध्वनियों का वर्गीकरण तथा उनका ध्वन्यात्मक विवरण दिया गया है। नवें प्रकरण में शब्द-रचना तथा पद-रचना के विभिन्न उपादानों का विवेचन किया गया है और तदुपरान्त हिन्दी में स्त्री-प्रत्यय, कृदन्त और

तद्धित का विशद वर्णन किया गया है। दसवें प्रकरण में समासों का विवेचन और वर्गीकरण आदि है। इसमें हिन्दी के तद्भव तथा देशी समासों को भी उदाहरण के रूप में रखा गया है। अन्तिम और ग्यारहवें अध्याय में लिपि संबंधी विवेचन है। इसमें भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता, ब्राह्मी की उत्पत्ति और तत्संबंधी विविध धारणाएँ, ब्राह्मी लिपि का विकास आदि विषयों का तो अध्ययन किया ही गया है, देवनागरी लिपि की विशेषताओं तथा त्रुटियों का भी उल्लेख किया गया है और नागरी लिपि में सुधार संबंधी सुझावों का भी इतिहास दिया गया है। इस प्रकरण में मुझे डा० राजबली पाण्डेय के 'इन्डियन पैलिओग्रैफी' नामक ग्रंथ से बड़ी सहायता मिली है। मैंने सम्पूर्ण ग्रंथ में इस बात का प्रयास किया है कि सभी उपलब्ध सामग्री तथा आधुनिकतम शोधों का उपयोग किया जाय और नूतन वैज्ञानिक पद्धति से ही विषय प्रस्तुत किया जाय। मुझे इसमें कहाँ तक सफलता मिली है, यह तो विद्वान् ही बताएँगे।

भाषा विज्ञान के अध्ययन के लिए मेरे मन में अभिरुचि उत्पन्न करने का श्रेय मेरे पूज्य गुरुवर पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा को है। उन्हीं के चरणों में बैठकर मैंने साहित्य तथा भाषाशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया था। इस अवसर पर उन्हें धन्यवाद देने की धृष्टता करके मैं अपनी श्रद्धा को सीमित नहीं करना चाहता। मेरे कानपुर छोड़कर यहाँ चले आने के बाद मेरा सम्पर्क डा० उदय नारायण तिवारी से हो गया था। उनके प्रोत्साहन से मुझे निरन्तर प्रेरणा मिलती रही है, एतदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इन दोनों गुरु जनों और विद्वानों के अतिरिक्त मैं डा० गोर्डन एच० फेअर बैंक्स (Dr. Gordon H. Fairbanks, Professor of Indo-European Linguistics, Cornell University, N. Y., U.S.A.) का बड़ा आभारी हूँ, जिन्होंने भाषाशास्त्र के उच्च-स्तरीय और वैज्ञानिक अध्ययन में मेरा पथ-निर्देश किया है। डा०

फेअर बैंक्स के भाषणों तथा कक्षा-संकेतों (class-notes) का भी मैंने इस ग्रंथ में उपयोग किया है और एतदर्थ उनका कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक की छपाई बड़ी शीघ्रता में हुई है, अतएव यदि कुछ मुद्रण संबंधी अशुद्धियाँ रह गई हों, तो विज्ञ पाठक एतदर्थ क्षमा करेंगे। भाई योगेन्द्र पाण्डेय ने मुद्रण कार्य में बड़ी सहायता की है, उन्हें मैं धन्यवाद देता हूँ। बंधु शिवानन्द शर्मा को तो क्या धन्यवाद दूँ, यह ग्रंथ वस्तुतः उन्हीं की सक्रिय सहायता से प्रकाशित हो रहा है। वे मेरे इतने अपने हैं कि उन्हें धन्यवाद देना स्वयं को धन्यवाद देना होगा। अन्त में मैं हिन्दी साहित्य प्रेस के अधिकारियों तथा कर्मचारियों को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मेरे इस ग्रंथ के मुद्रण में बड़ा श्रम किया है। विद्वानों तथा विषय के अध्यापकों से मेरा निवेदन है कि वे पुस्तक की कमियों और त्रुटियों (यदि उन्हें मिलें) की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने की कृपा करें। मैं उन्हें अगले संस्करण में दूर करने की भरसक चेष्टा करूँगा। मुझे तो तभी सन्तोष होगा जब हिन्दी के विकास का अध्ययन करने वाले छात्रों तथा सामान्य पाठकों के लिए मेरा यह प्रयास उपयोगी सिद्ध हो।

देवोत्थानी एकादशी,
संवत् २०१४.

बालगोविन्द मिश्र

विषयानुक्रम

विषय पृष्ठ

१—पहला प्रकरण—भाषा

भाषा की उपयोगिता—भाषा की परिभाषा—अन्य विदेशी विद्वानों की परिभाषाएँ—भाषा की विशेषताएँ—भाषा समाज-सापेक्ष्य है—भाषा परम्परागत सम्पत्ति है—भाषा अर्जित सम्पत्ति है—भाषा का विकास होता है—भाषा के विभिन्न प्रकार—बोली—विभाषा या उपभाषा—भाषा—राष्ट्रभाषा—राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा। १–१०

२—दूसरा प्रकरण—भाषा-परिवार

पारिवारिक वर्गीकरण की पद्धति—तुलना के आधार—(१) शब्द भाण्डार का साम्य (२) रचना-साम्य—संसार की भाषाओं के चार भौगोलिक खण्ड—अमेरिका खण्ड की भाषाएँ—प्रशान्त महासागर खण्ड की भाषाएँ—अफ्रीका खण्ड की भाषाएँ—यूरेशिया खण्ड की भाषाएँ—(१) विविध समुदाय—(२) यूराल अल्ताई परिवार—(३) चीनी या एकाक्षरी परिवार—(४) काकेशस परिवार—(५) द्राविड़ परिवार—(अ) ब्राहुइ वर्ग—(आ) मध्यवर्ती वर्ग—(इ) आंध्र वर्ग—(ई) द्राविड़ वर्ग—(६) सेमेटिक परिवार—सेमेटिक परिवार की सामान्य विशेषताएँ—(७) भारोपीय परिवार—शतम् और केण्टुम वर्ग—केण्टुम वर्ग की भाषाएँ—(१) हित्ती भाषा—(२) तोखारियन—(३) कैल्टिक—(४) ट्यूटानिक शाखा—(५) लैटिन—(६) ग्रीक—शतम् वर्ग की भाषाएँ—(१) बाल्टिक शाखा—(२) स्ला-

व्हिक शाखा—(३) एल्बेनियन शाखा—(४) आर्मीनियन शाखा—(५) आर्य ईरानी शाखा—(अ) ईरानी भाषाएँ—(आ) दरद भाषाएँ—(इ) आर्य भाषाएँ—भारोपीय परिवार की सामान्य विशेषताएँ। ११–४२

३—तीसरा प्रकरण—भारतीय आर्य भाषाओं का विकास (अपभ्रंश-युग तक)

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा

आर्यों का मूल निवास स्थान—आर्यों का प्रसार—हित्ताइट शाखा—ईरान में आर्यों का प्रवेश—अवेस्ता की रचना—अवेस्ता और प्राचीन वैदिक भाषा की तुलना—प्राचीन वैदिक भाषा—परवर्ती वैदिक भाषा—प्राचीन वैदिक तथा परवर्ती वैदिक भाषा की तुलना—परवर्ती ब्राह्मण ग्रंथों की भाषा—वैदिक-युग के अन्त में प्रचलित तीन विभाषाएँ—लौकिक संस्कृत का विकास—पाणिनि से पतंजलि के युग तक—प्राचीनतम वैदिक युग से पतंजलि-युग तक भाषा-विकास के पाँच स्तर।

मध्य भारतीय आर्य भाषा

भगवान बुद्ध के समय की भाषागत स्थिति—मभाआ का उदय—(१) ध्वनि-परिवर्तन (२) व्याकरणिक परिवर्तन—प्रथम युग—पालि भाषा और साहित्य—पालि शब्द की व्युत्पत्ति—पालि भाषा किस प्रदेश की भाषा थी? पालि भाषा की विशेषताएँ—अशोक के अभिलेखों की भाषा—अशोक के अभिलेख—अशोक-कालीन जन-भाषाओं के विभेद—अशोक कालीन प्राकृतों के बाद शिलालेखों में संस्कृत का प्रभाव—ई० पूर्व २०० से ईसा ३०० तक की

अध्ययन-सामग्री—अश्वघोष की प्राकृतें—नियप्राकृत—द्वितीय युग—साहित्यिक प्राकृतें—साहित्यिक प्राकृतों के विभिन्न भेद—शौरसेनी प्राकृत—मागधी प्राकृत—अर्धमागधी प्राकृत—महाराष्ट्री प्राकृत—पैशाची प्राकृत—तीसरा युग—अपभ्रंशभाषाएँ—अपभ्रंश शब्द का प्रयोग—लोकभाषा के रूप में अपभ्रंश के प्रयोग का युग—अपभ्रंश का क्षेत्र और प्रसार—अपभ्रंश और आभीर जाति—अपभ्रंश की विभाषाएँ—अपभ्रंश की विशेषताएँ—(१) ध्वनि-विषयक विशेषताएँ—(२) पद-रचना विषयक विशेषताएँ—उपसंहार। ४३–६६

४—चौथा प्रकरण—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ

आधुनिक भाषाओं का उदय

अवहट्ठ का उदय और अध्ययन-सामग्री—अवहट्ठ का नामकरण—अवहट्ठ के प्रान्तीय विभेद—(१) ध्वनि-विषयक विशेषताएँ—(२) रूप-निर्माण विषयक विशेषताएँ—(३) वाक्य-विन्यास का विकास—(४) शब्द-भांडार—अवहट्ठ से आधुनिक आर्य भाषाओं का उदय और विकास—बंगला, मराठी, गुजराती और सिन्धी का विकास—मध्यदेशीय भाषा का विकास—मैथिली और राजस्थानी—हिन्दी की बोलियों का विकास—उपसंहार।

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण

डा० ग्रियर्सन का वर्गीकरण—डा० ग्रियर्सन के वर्गीकरण के आधार और डा० चाटुर्ज्या द्वारा उनकी आलोचना—(१) ध्वनि सम्बन्धी आधार—(२) रूप निर्माण सम्बन्धी आधार—डा० चाटुर्ज्या का वर्गीकरण—आधुनिक आर्य-भाषाओं का संक्षिप्त परिचय—(१) सिन्धी—लहंदा—

(३) पंजाबी—(४) गुजराती—(५) राजस्थानी—(६) मराठी—(७) पश्चिमी हिन्दी—(८) पूर्वी हिन्दी (९) बिहारी—(१०) उड़िया—(११) बंगला—(१२) आसामी—(१३) पहाड़ी भाषाएँ। ९७–१२६

५—पाँचवाँ प्रकरण—हिन्दी की बोलियाँ और प्रादेशिक भाषाएँ

हिन्दी की सीमाएँ, उसकी विभाषाएँ तथा बोलियाँ—पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी में अन्तर—(क) उच्चारण तथा शब्द-रूप—(ख) सर्वनाम—(ग) क्रियापद—(घ)—परसर्ग—पश्चिमी-हिन्दी और उसकी बोलियाँ—(१) बाँगरू—(२) खड़ी बोली—(अ) भौगोलिक सीमाएँ—(आ) भाषा-शास्त्रीय विशेषताएँ—(३) ब्रज-भाषा—(अ) भौगोलिक सीमाएँ—(आ) स्थानीय-बोलियाँ—(इ) स्थानीय बोलियों के ध्वन्यात्मक अन्तर—(ई) भाषाशास्त्रीय विशेषताएँ—(४) कन्नौजी—(५) बुन्देली—(अ) भौगोलिक सीमाएँ—(आ) मिश्रित बोलियाँ—(इ) भाषाशास्त्रीय विशेषताएँ—पूर्वी-हिन्दी और उसकी बोलियाँ—(१) अवधी—(अ) भौगोलिक सीमाएँ—(आ) अवधी के तीन स्थानीय रूप—(इ) अवधी-बघेली से प्रभावित बोलियाँ—बाँदा जिले की बोलियाँ—(ई)—भाषाशास्त्रीय विशेषताएँ—(२) बघेली—(३) छत्तीसगढ़ी—हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ—(१) राज-स्थानी—(२) पहाड़ी भाषाएँ—(३) बिहारी। १२७–५८

६—छठवाँ प्रकरण—हिन्दी का ऐतिहासिक विकास और उसके साहित्यिक रूप

हिन्दी का उदय—हिन्दी के विकास के तीन युग—प्राचीन (१५०० ई० तक)—मध्ययुग (१५०० ई० से १८०० ई०

तक)—आधुनिकयुग (१८०० ई० से आज तक)—हिन्दी के साहित्यिकरूप—दक्खिनी या दक्खिनी हिन्दी—हिन्दवी, हिन्दवी, हिन्दुई—उर्दू—रेख्ता, रेख्ती—हिन्दुस्तानी—नागरी—हिन्दी। १५६–७६

७—सातवाँ प्रकरण—हिन्दी का शब्द-भण्डार

भाषा का शब्द भण्डार—हिन्दी के शब्द-समूह के विभिन्न स्रोत—(अ) हिन्दी भारतीय आर्य भाषाओं के शब्द—(१) तत्सम—(२) तद्भव—(३) अर्ध-तत्सम—(४) तत्समाभास—(५) तद्भवाभास—(६) देशी—आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं से आए हुए शब्द—(आ) भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द—(इ) विदेशी भाषाओं के शब्द—(१) मुसलमानी शासकों की भाषाओं के शब्द—(क) फारसी शब्द—(ख) अरबी शब्द—(ग) तुर्की शब्द—(घ) पश्तो शब्द—(२) योरोपीय भाषाओं के शब्द—(क) अंग्रेजी शब्द—(ख)—फ्रांसीसी शब्द—(ग) पुर्तगाली शब्द—(घ) डच शब्द—द्विज, द्विरुक्त और प्रतिध्वनि मूलक शब्द। १७८–८८

८—आठवाँ प्रकरण—हिन्दी की ध्वनियाँ

ध्वनि विज्ञान का वर्ण्य विषय—भाषणावयव—भाषणावयवों की बनावट का परिचय—उच्चारण—प्रयत्न—अघोष और घोष ध्वनियाँ—अल्प प्राण और महाप्राण ध्वनियाँ—स्वर और व्यंजन—व्यंजनों के सामान्य वर्गीकरण के आधार—स्थान के अनुसार वर्गीकरण—स्वरों का वर्गीकरण—स्वरों के स्थान-गत विभेद—स्वरों के प्रयत्नगत विभेद—मान-स्वर—हिन्दी के मूल-स्वर—हिन्दी ध्वनियों का ध्वन्यात्मक वर्णन—स्वर-ध्वनियाँ—अनुनासिक स्वर—

सन्ध्यक्षर—हिन्दी व्यंजन ध्वनियाँ—स्पर्श—स्पर्शघर्ष—अनुनासिक—पार्श्विक, लुण्ठित, उत्क्षिप्त अर्धस्वर। १८६–२१६

९—नवाँ प्रकरण—हिन्दी की शब्द रचना

शब्द और पद—शब्द-साधन और शब्द-प्रत्यय—वैय्याकरणों के अनुसार शब्दों का एक अन्य आधार पर वर्गीकरण—पद-साधक प्रत्यय—नाम-प्रत्यय और अख्यात-प्रत्यय—पद-विभाग के विषय में प्राचीन तथा आधुनिक मत—हिन्दी के आठ पद-विभाग—संज्ञा—लिंग—लिंग भेद के दो प्रकार—नैसर्गिक लिंग-भेद—व्याकरणिक लिंग-भेद—भारतीय भाषाओं में लिंग-भेद—हिंदी लिंग-भेद—संज्ञा के अतिरिक्त अन्य पदों में लिंग-भेद—हिन्दी के स्त्री-प्रत्यय—'ई' प्रत्यय—'इन' प्रत्यय—'नी' प्रत्यय—'आइन' प्रत्यय—'आनी' प्रत्यय—'इया' प्रत्यय—संस्कृत तथा विदेशी भाषाओं के स्त्री-प्रत्यय—सर्वनाम—विशेषण—क्रिया—कृदन्त—(अ) विकारी कृदन्त—(१) क्रियार्थक संज्ञा (२) कर्तृवाचक कृदन्त—(३) वर्त्तमानकालिक कृदन्त—(४) भूतकालिक कृदन्त—(आ) अविकारी कृदन्त—(१) अपूर्ण क्रिया-सूचक कृदन्त—(२) पूर्ण क्रिया-सूचक कृदन्त—(३) तात्कालिक कृदन्त—(४) पूर्वकालिक कृदन्त—तद्धित—(१) अपत्य वाचक संज्ञा—(२) कर्तृवाचक संज्ञा—(३) भाववाचक संज्ञा—(४) गुण वाचक संज्ञा—(५) ऊन वाचक संज्ञा—अन्य तद्धित प्रयोग। ... २२०–४६

१०—दसवाँ प्रकरण—हिन्दी के समास

समास की परिभाषा—समासों का वर्गीकरण—(१) अव्ययीभाव समास (२) तत्पुरुष समास—तत्पुरुष के अन्य भेद—(क) उपपद समास—(ख) नञ् समास—

(ग) प्रादि समास—(घ) अलुक् समास—(ङ) नित्य समास —(च) कर्मधारय समास—(छ) द्विगु समास—(ज) द्वन्द्व समास—(क) इतरेतर द्वन्द्व—(ख) समाहार द्वन्द्व—(ग) वैकल्पिक द्वन्द्व—(४) बहुव्रीहि समास—(क) व्यधिकरण बहुव्रीहि—(ख) समानाधिकरण बहुव्रीहि। २४७–५६

११—ग्यारहवाँ प्रकरण—देवनागरी लिपि की उत्पत्ति और विकास

सिंधु-घाटी सभ्यता की लिपि—अन्य प्राचीन भारतीय लिपियाँ—ब्राह्मी और खरोष्ठी—वैदिक युग में लेखनकला के प्रचलन के प्रमाण—परवर्ती युग में लेखनकला के प्रचलन के प्रमाण—इस संबंध में विदेशी प्रमाण—प्राचीन लिपि-बद्ध ग्रन्थ न मिलने के कारण—ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति—ब्राह्मी लिपि का किसी विदेशी लिपि से विकास—(१) ग्रीक-लिपि से ब्राह्मी का उद्भव—(२) सामी लिपि से ब्राह्मी का उद्भव—(क) दक्षिणी सामी से ब्राह्मी का विकास—(ख) उत्तरी सामी से ब्राह्मी का विकास—(ग) फोनेशियन लिपि से ब्राह्मी का विकास—ब्राह्मी लिपि की वैदिक उत्पत्ति —ब्राह्मी लिपि का विकास—मौर्य-युगीन ब्राह्मी—गुप्त-ब्राह्मी लिपि—न्यूनकोणीय लिपि—प्राचीन शारदा, नागरी और कुटिल लिपियाँ—शारदा से विकसित काश्मीरी, टक्री, लण्डा आदि लिपियाँ—बंगला लिपि—बंगला से विकसित अन्य लिपियाँ—देवनागरी लिपि—देवनागरी से विकसित लिपियाँ—देवनागरी लिपि की विशेषताएँ—देवनागरी की त्रुटियाँ—देवनागरी लिपि में सुधार। २५७–७७

परिशिष्ट—सहायक ग्रंथ-सूची ... २७६–८३

पहला प्रकरण

भाषा

भाषा की उपयोगिता

सभी मनुष्य अपने दैनिक व्यवहार में भाषा का उपयोग करते हैं। प्रायः भाषा के प्रयोग के द्वारा ही वे अपने विचारों तथा मनोभावों को अभिव्यक्त करते हैं, उसी के द्वारा वे समाज के अन्य प्राणियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं और सामाजिक जीवन का निर्वाह सरल तथा सुविधापूर्ण हो जाता है। वास्तव में सामाजिक प्राणी होने के कारण स्वभावतः कोई भी प्राणी एकाकी जीवन व्यतीत करना नहीं पसन्द करता, वरन् वह समाज के अन्य लोगों के साथ सहयोगपूर्ण ढंग से जीवन निर्वाह करना चाहता है। वह अपने विचारों, अपनी अनुभूतियों तथा अपनी भावनाओं को अपने तक ही सीमित नहीं रख पाता, वरन् उन्हें दूसरे प्राणियों तक पहुँचाने के लिए आकुल रहता है। इस प्रेषण के लिए वह उपयुक्त माध्यम खोजता है। यह माध्यम भाषा ही है। मानव-समाज के लिए भाषा की यही उपयोगिता है कि वह इसके द्वारा विचारों तथा भावनाओं का आदान-प्रदान करता है और बाह्य पदार्थों, परिस्थितियों तथा घटनाओं के सम्बन्ध में अपनी इच्छा तथा धारणा की अभिव्यक्ति करता है।

भाषा की परिभाषा

मनुष्य इस विचाराभिव्यक्ति के लिए जिस भाषा का प्रयोग

करता है वह ध्वनियों का समूह होती है।[1] ये ध्वनियाँ सार्थक होती हैं, क्योंकि सार्थक ध्वनियों के प्रयोग से ही विचारों का आदान-प्रदान सम्भव है, निरर्थक ध्वनियों से नहीं। इन ध्वनियों का उन अर्थों से कोई स्वाभाविक या प्रकृत संबंध नहीं होता है वरन् ये उन अर्थों से यदृच्छा संबंध से सम्बद्ध होती हैं, और उन अर्थों के लिए प्रतीक अथवा संकेत के रूप में प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार संक्षेप में, सार्थक ध्वनि-संकेतों के समूह को भाषा कहते हैं। भाषा के क्षेत्र में प्रयुक्त इन ध्वनियों के संबंध में दो बातें और ध्यान देने की हैं—(१) ये ध्वनियाँ मनुष्य के उच्चारणोपयोगी अवयवों के द्वारा उच्चरित होनी चाहिए, क्योंकि अन्य प्रकार की ध्वनियों को भाषा के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता है। (२) ये ध्वनि-संकेत किसी विशेष जन-समुदाय के द्वारा पारस्परिक विचाराभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं। अतएव हम अब भाषा की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं :—

"किसी विशेष जन-समुदाय के द्वारा प्रयुक्त, उच्चारणोपयोगी अवयवों से उच्चरित सार्थक ध्वनि-संकेतों के समूह को भाषा कहते हैं, जिससे विचारों तथा भावनाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान किया जाता है, और जो बाह्य पदार्थों, परिस्थितियों, घटनाओं तथा क्रियाओं के संबंध में एक निश्चित अर्थ का बोध कराती हैं।" इस परिभाषा से भाषा के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) भाषा ध्वनियों का समूह है।

(२) ये ध्वनियाँ संकेत के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं।

(३) ये ध्वनियाँ सार्थक होती हैं।

(४) ये ध्वनियाँ मनुष्य के उच्चारणोपयोगी अवयवों के द्वारा उच्चरित की जाती हैं।

---

[1] "Speech is the use of articulate sound Symbols for the expression of thought"—A. H. Gardiner—Speech and Language, chap. I.

(५) ये ध्वनियाँ किसी विशेष जन समुदाय के ही द्वारा प्रयुक्त की जाती हैं।

(६) भाषा के द्वारा विचारों तथा भावनाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान किया जाता है।

(७) भाषा के द्वारा वाह्य पदार्थों, परिस्थितियों, घटनाओं तथा क्रियाओं के संबध में निश्चित अर्थ का बोध कराया जाता है।

अन्य विदेशी विद्वानों की परिभाषाएँ

भाषा की उपर्युक्त परिभाषा की पूर्णता, वैज्ञानिकता और प्रामाणिकता की परीक्षा के लिए हमें कुछ अन्य विद्वानों के द्वारा दी गई समानान्तर परिभाषाओं को भी देख लेना चाहिए। जॉन बी० कैरोल नामक अमेरिकी विद्वान् भाषा की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—

"Language is a system of distinct sound symbols, underlying the manifest speech behaviour of the individuals, comprising a speech community. [१]

एक अन्य स्थान पर कैरोल महोदय लिखते हैं :—

"A Language is a structured system of arbitrary vocal sounds or sequences of sounds, which is used, or can be used, in inter-personal communication by an aggregation of human beings, and which rather exhaustively catalogues the things, events and processes in human behaviour."[२]

---

१ देखिये—John. B. Carrol—The Study of Language—Chap. I

२ देखिये—John B. Carrol—The study of Language—Chap. I

एक अन्य ग्रन्थ Outlines of linguistic Analysis में लेखक महोदय भाषा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

"A Language is a system of arbitrary vocal symbols, by means of which a social group coop-rates."[1]

उपर्युक्त तीनों परिभाषाओं का भलीभाँति अध्ययन और विश्लेषण करने पर यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि इन परिभाषाओं में भी भाषा के स्वरूप के सम्बंध में प्रायः वही बातें उल्लिखित हैं, जिनका हमारी परिभाषा में सन्निवेश है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी परिभाषा वैज्ञानिक, पूर्ण तथा प्रामाणिक है और भाषा के स्वरूप का सही-सही परिचय कराती है।

भाषा की विशेषताएँ

भाषा के स्वरूप के सम्बध में विचार करते हुए हमें भाषा की कुछ मौलिक एवं आधारभूत विशेषताओं की ओर दृष्टि डाल लेना भी आवश्यक है। भाषा की ये मौलिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **भाषा समाज सापेक्ष्य है**—यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भाषा ध्वनि संकेतों का समूह है। ये ध्वनियाँ विभिन्न अर्थों का बोध कराने के लिए प्रयुक्त होती हैं और उनका इन अर्थों से केवल सांकेतिक सम्बन्ध होता है। भाषा के दो आधार या पक्ष होते हैं :—भौतिक पक्ष (physical aspect) और मानसिक पक्ष (psychological aspect)। भाषा के इन द्विविध आधारों या पक्षों का पारस्परिक सम्बन्ध जन्मजात या

---

१ देखिये—B. Bloch and George L. Trager—Outlines of Linguistic Analysis. Chapter I—Page I.

स्वाभाविक नहीं है वरन् केवल समाज-स्वीकृति पर ही स्थिर है। 'गाय' शब्द से पशु विशेष का जो बोध होता है, वह एक समाज सापेक्ष्य बोध है। स्वयं 'गाय' शब्द की तीन ध्वनियों 'ग्' 'आ' और 'य' में कोई ऐसा प्रकृत गुण नहीं है कि उनके द्वारा एक पशु विशेष का ही बोध हो। यह बोधकता तो समाज की स्वीकृति से आती है। शब्द और अर्थ का यह पारस्परिक सम्बन्ध यदृच्छा सम्बन्ध कहलाता है। भाषा के समस्त शब्द इसी सम्बन्ध के आधार पर विभिन्न अर्थों का बोध कराते हैं। इसीलिए भाषा को समाज-सापेक्ष्य कहा गया है।

(२) **भाषा परम्परागत संपत्ति है**—भाषा एक क्षणिक अथवा अनित्य वस्तु नहीं है वरन् वह एक परम्परागत वस्तु है। यद्यपि कालक्रम से भाषा के विभिन्न अंगों तथा उपादानों में परिवर्तन तथा विकास होता रहता है परन्तु फिर भी भाषा एक ऐसी अविच्छिन्न एवं सतत प्रवाहित होने वाली धारा है जो स्थाया और नित्य होती है। भाषा के इस प्रकार की स्थायी संस्था होने का कारण यही है कि वह समाज-सापेक्ष्य है। एक सामाजिक संस्था होने के कारण तथा पारस्परिक विचाराभिव्यक्ति के माध्यम होने के कारण भाषा के वक्ता और श्रोता निरन्तर भाषा के स्वरूप को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास करते हैं क्योंकि तभी उसके द्वारा सामाजिक सहयोग तथा विचार-प्रेषण सम्भव होता है। प्रत्येक नई पीढ़ी के व्यक्ति अपने पूर्वजों से भाषा सीखते हैं और इस सीखने के कारण ही भाषा का परम्परागत रूप सुरक्षित रहता है। भाषा के प्रयोक्ता जानबूझ कर भाषा के स्वरूप के स्थायित्व की रक्षा इसी हेतु करते हैं कि वह पारस्परिक विचार विनिमय का सफल साधन बनी रहे।

(३) **भाषा अर्जित सम्पत्ति है**—भाषा के परम्परागत होने का तात्पर्य यह नहीं है कि भाषा नई पीढ़ी को पैत्रिक अथवा कुल-क्रमागत सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होती है। भाषा तो नई पीढ़ी के

लोगों को अपने पूर्वजों से तथा अपने समाज से संसर्ग के द्वारा सीखनी पड़ती है। कोई भी व्यक्ति जन्म से ही भाषा सीख कर नहीं आता है वरन् वह अपने वातावरण से और समाज से उसका अर्जन करता है और उपयोग करता है। प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अलग-अलग भाषा का अर्जन किए जाने पर भी वह व्यक्तिगत नहीं वरन् सामाजिक ही होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा को व्यक्ति सीखता है, वह उसे पैदा नहीं कर सकता।

(४) भाषा का विकास होता है—परिवर्तन और विकास भाषा का एक सहज और स्वाभाविक गुण है। यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वातावरण और समाज से भाषा का अर्जन करता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसके अर्जन में कुछ नए तथ्य आ जाते हैं और जब सभी मनुष्य संसर्ग ही द्वारा भाषा सीखते हैं तो स्पष्ट है कि उनके न चाहते हुए भी भाषा में कुछ न कुछ परिवर्तन हो ही जाता है। इसी प्रकार नवीन ज्ञान को स्थान देने के लिए एवं नवीन परिस्थितियों में अपने आप को ढालने के लिए भी उसमें परिवर्तन होता है। जलवायुगत कारणों, विभिन्न भाषाओं के सम्पर्क आदि से भी किसी भाषा में नए तथ्य प्रवेश करते हैं और भाषा में परिवर्तन तथा विकास होता है। तात्पर्य यह है कि परिवर्तनशीलता तथा विकास भाषा का एक प्राकृतिक गुण है।

भाषा के विभिन्न प्रकार

मनुष्य भाषा का व्यवहार अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में करता है। क्या घर में और क्या बाजार में, क्या सभा-सोसाइटी में और क्या साहित्य-रचना में,—सर्वत्र भाषा का उपयोग किया जाता है। परन्तु इन सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त भाषा एक ही प्रकार की नहीं होती। घर की बोली और साहित्य रचना की भाषा में पर्याप्त अन्तर होता

है। इसी क्षेत्र के आधार पर भाषा के तीन भेद होते हैं—बोली, विभाषा या उपभाषा और भाषा।

बोली

मनुष्य अपने साधारण बोलचाल में भाषा के जिस स्वरूप का उपयोग करते हैं वह बोली कहलाती है। बोली दैनिक बोलचाल के उपयोग में आती है और बोलने वालों के घर तथा परिवार तक ही सीमित होती है। यह लेखबद्ध होकर साहित्य-रचना का माध्यम कभी भी नहीं बनती वरन् बोलनेवालों के मुख में ही रहती है इसीलिए इसे अंग्रेजी में patois कहते हैं। बोली का क्षेत्र बहुत संकुचित होता है और स्थान-स्थान की बोली में अपनी अपनी विशिष्टताएँ रहती हैं। भाषा शास्त्रियों की तो यह धारणा है कि प्रति दस मील पर बोली परिवर्तित हो जाती है। इसी प्रकार अलग अलग जातियों तथा सामाजिक समुदायों की भी विशिष्ट बोली होती है, जो उन्हीं के अन्तर्गत सीमित होती है। समुदाय, जाति या वर्ग विशिष्ट की बोली को अंग्रेजी में slang कहते हैं।

विभाषा या उपभाषा

विभाषा का क्षेत्र बोली के क्षेत्र से अधिक बड़ा होता है। किसी भी प्रांत, उपप्रांत या अधिक विस्तृत प्रदेश की बोलचाल की तथा सामान्य साहित्य-रचना की भाषा को विभाषा या उपभाषा कहते हैं। एक विभाषा के विस्तीर्ण क्षेत्र के अन्तर्गत बहुत सी बोलियाँ आ जाती हैं, जिनमें वर्तमान समानताओं से ही विभाषा का स्वरूप निर्मित होता है और स्थिर रहता है। इसके अतिरिक्त विभाषा में साहित्य की भी रचना होती है। यह केवल बोलने वालों के मुख तक ही सीमित नहीं रहती। इसे उपभाषा या प्रान्तीय भाषा भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसे Dialect कहते हैं। संक्षेप में, इसका क्षेत्र अधिक व्यापक और स्वरूप अधिक स्थिर और साहित्यिक होता है।

भाषा

कई विभाषाओं के क्षेत्रों में व्यवहृत होने वाली तथा शिष्ट लोगों के द्वारा स्वीकृत तथा प्रयुक्त विभाषा ही कालान्तर में भाषा का रूप धारण कर लेती है। इसे ही टकसाली भाषा कहते हैं। अंग्रेजी में यह Language, Koine या Standard Language कहलाती है। यह भाषा अपने क्षेत्र की समस्त विभाषाओं को प्रभावित करती है और उनसे निरन्तर प्रभावित होती रहती है। भाषा के इस व्यापक क्षेत्र के अन्तर्गत रहने वाली सभी विभाषाएँ अपने अपने स्वरूप तथा पद की रक्षा करती हुई भी भाषा को निरन्तर महत्वपूर्ण पद प्रदान करती हैं तथा पारस्परिक व्यवहार तथा विनिमय के लिए उसका उपयोग करती हैं। विभाषाएँ तो जन्म-सिद्ध रीति से अपने अपने प्रांतों में बोली जाती हैं परन्तु भाषा को यह व्यापक तथा महत्वपूर्ण स्थान अधिकतर सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक कारणों से प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ प्राचीन काल में संस्कृत धार्मिक और सांस्कृतिक कारणों से यह स्थान प्राप्त किए हुए थी, मध्ययुग में सांस्कृतिक कारणों से हिन्दी उत्तरी भारत की भाषा थी और आज राजनैतिक कारणों से उसका महत्वपूर्ण स्थान है। अंग्रेजी, जो आज विश्व भर में इतना बड़ा स्थान ग्रहण किए हुए है, वह राजनैतिक कारणों से ही। भाषा में केवल काव्य तथा साहित्य मात्र की ही रचना नहीं होती है वरन् शास्त्रीय विषयों के साहित्य तथा उपयोगी साहित्य की भी रचना होती है। उसमें सामाजिक विज्ञानों, मानव विज्ञानों तथा विभिन्न शास्त्रों के साहित्य का भी सृजन होता है। इस प्रकार भाषा विभाषाओं में से ही एक ऐसी विभाषा होती है है जो अपने जन्म-स्थान में ही नहीं रह जाती वरन् जो धार्मिक राजनैतिक, साहित्यिक या अन्य किन्हीं कारणों से प्रोत्साहन प्राप्त करके एक अत्यन्त व्यापक क्षेत्र की भाषा बन जाती है।

राष्ट्रभाषा

राष्ट्रभाषा किसी राष्ट्र अथवा देश के सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रयुक्त और समझी जानेवाली भाषा को कहते हैं। अंग्रेजी में यह National Language या Lingua Franca कहलाती है। इसी भाषा के द्वारा उस राष्ट्र में प्रयोग की जानेवाली विभिन्न भाषाओं के बीच पारस्परिक सहयोग एवं संबंध स्थापित होता है। यह राष्ट्र भाषा वास्तव में इस महत्वपूर्ण पद पर धार्मिक सांस्कृतिक और कभी-कभी राजनैतिक तथा साहित्यिक कारणों से आसीन होती है। राष्ट्रभाषा में सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन की झाँकी मिलती है। राष्ट्र के रहने वाले प्राणियों के जीवनादर्श, उनके विचार, उनकी संस्कृति, उनकी भौतिक तथा आध्यात्मिक समृद्धि आदि का ज्ञान होता है। यही राष्ट्रभाषा सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में आबद्ध करती है और उनमें तथा उनकी भाषाओं एवं विभाषाओं में सहयोगपूर्ण आदान-प्रदान का मार्ग प्रशस्त करती है।

राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा

राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। राज्य-भाषा उस भाषा को कहते हैं जिसमें किसी राज्य का शासन तथा राजकीय व्यवस्था की जाती है। किसी भी राज्य को अपने समस्त राजकीय कार्यों में एक भाषा विशेष का उपयोग करना पड़ता है और जो भाषा इस उद्देश्य के लिए प्रयुक्त होती है, वह राज्यभाषा कहलाती है। अक्सर राज्यभाषा या तो राष्ट्रभाषा को ही बनाया जाता है या राज्यभाषा ही राजकीय संरक्षण के कारण धीरे-धीरे राष्ट्रभाषा बन जाती है परन्तु विजित एवं पराधीन राज्यों में ऐसा नहीं होता। मुस्लिम काल में राज्यभाषा फारसी थी यद्यपि वह राष्ट्र-भाषा न थी। आजकल भारत की राज्यभाषा हिन्दी है, परन्तु उसे

सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा कहने में हिचकिचाहट होती है। वह उत्तरी भारत की राष्ट्रभाषा है और सम्पूर्ण भारत की राज्यभाषा। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यभाषा राजकीय कार्यों में प्रयुक्त भाषा होती है जबकि राष्ट्रभाषा सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवनादर्शों, उसकी संस्कृति की माध्यम तथा राष्ट्र की एकता और सहयोग की साधिका और प्रतीक होती है।

दूसरा प्रकरण

भाषा-परिवार

पारिवारिक वर्गीकरण की पद्धति

संसार में आजकल प्रायः दो हजार से अधिक भाषाओं का उपयोग होता है। ये भाषाएँ यद्यपि एक दूसरे से भिन्न दिखलाई पड़ती हैं परन्तु फिर भी यदि ध्यान पूर्वक इनका अध्ययन किया जाय तो बहुतेरी भाषाओं में पारस्परिक समानता या सजातीयता पाई जायगी। प्राचीन युग से अद्यतन काल तक इनके विकास को सूक्ष्मता के साथ देखने से यह ज्ञात होता है कि ये सजातीय भाषाएँ या तो एक ही मूल भाषा से उद्भूत हुई हैं और काल-क्रम से भिन्न भिन्न भाषाओं के रूप में विकसित हुई हैं या एक दूसरे से विशेष प्रभावित होने के कारण इतनी समान प्रतीत होती हैं। भाषाओं का वर्गीकरण करने लिए हमें सजातीय भाषाओं की तुलनात्मक परीक्षा करने की आवश्यकता पड़ती है, और यदि इस तुलना के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि इन भाषाओं की एक ही मूल भाषा से उत्पत्ति हुई है तो हम उन सभी भाषाओं को एक वर्ग अथवा परिवार में रखते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, उड़िया, पंजाबी, सिन्धी आदि भाषाओं की तुलनात्मक परीक्षा करते हैं तो हमें यह पता लगता है कि इनमें सजातीयता तथा साम्य की मात्रा बहुत अधिक है और हम यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य होते हैं कि ये सब एक ही मूल भाषा से विकसित हुई हैं; केवल देश, काल तथा परिस्थिति के भेद से आज ये भिन्न-भिन्न भाषाएँ प्रतीत होती हैं। जब हम सजातीय

भाषाओं को एक वर्ग अथवा परिवार में रखकर इस प्रकार समस्त संसार की भाषाओं का वर्गीकरण करते हैं तो यह वर्गीकरण ऐतिहासिक या पारिवारिक वर्गीकरण कहलाता है।

तुलना के आधार

एक परिवार में विभिन्न सजातीय भाषाओं को रखने के लिए उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इस तुलना के लिए दो आधार माने गए हैं—

(१) शब्द-भाण्डार का साम्य।

(२) रचना साम्य तथा व्याकरणिक साम्य।

१—शब्द-भाण्डार का साम्य

सजातीय भाषाओं की तुलना करते समय पहले उनके शब्द-भाण्डार की समानता की ओर ध्यान दिया जाता है। शब्दों की समानता देखने में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता होती है। यह शब्द-साम्य केवल निम्न तीन कोटि के शब्दों में खोजा जाता है—

१—निकट सम्बन्धियों के लिए प्रयुक्त शब्द, २—संख्या-वाची शब्द, ३—साधारण गृहस्थी संबन्धी शब्द।

इन्हीं तीन प्रकार के शब्दों की तुलना इस विचार से की जाती है कि किसी भी भाषा के आरम्भिक तथा आदिम स्वरूप में भी इन शब्दों के वर्तमान रहने की सम्भावना की जाती है और यह भी आशा की जाती है कि ये शब्द मूल भाषा से विकसित सभी भाषाओं में चले आए होंगे। उदाहरण के लिए हम भारोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त इस प्रकार के शब्दों को ले सकते हैं।

मातृ (संस्कृत), मादर (फारसी), Mater (लैटिन), Meter (ग्रीक), Mutter (जर्मन), Mother (अंग्रेजी), माता (हिन्दी)।

इसी प्रकार 'भाई' के लिए प्रयुक्त शब्द देखिए—

Bruder (जर्मन), भ्रातृ (संस्कृत) Brat (आ० रूसी) Frater (लैटिन) Phrater (ग्रीको) Brother (गाथिक) Brother (अंग्रेजी), भाई (हिन्दी)।

ये तो हुए निकट सम्बन्धियों के लिए प्रयुक्त शब्द। अब भारोपीय भाषाओं में प्रयुक्त संख्या वाची शब्दों को भी देखिए :—

दशन् (संस्कृत), Deka (ग्रीक), Decum (लैटिन , Desit (रूसी) Zehn (जर्मन) Taihum (गाथिक), Ten (अंग्रेजी) दस (हिन्दी)।

इसी प्रकार 'तीन' के लिए प्रयुक्त शब्द देखिए :—

त्रयः (संस्कृत), Tres (लैटिन), Treis (ग्रीक), Drei (जर्मन) Tri (रूसी), Three (अंग्रेजी), तीन (हिन्दी)।

अब साधारण गृहस्थी सम्बंधी शब्दों का एक उदाहरण लीजिए :—

द्वारः (संस्कृत), Thura (ग्रीक), Fores (लैटिन), Door (अंग्रेजी)। उपर्युक्त तीनों प्रकारों के जो शब्द भारोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं से दिए गए हैं, उनकी समानता हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि ये सब भाषाएँ एक ही मूल भाषा से उद्भूत हुई हैं। इसी प्रकार अन्य सजातीय भाषाओं के शब्दों की भी तुलना करके उन्हें एक परिवार या वर्ग में रक्खा जाता है।

७—रचना साम्य

एक वर्ग में विभिन्न भाषाओं को रखने के लिए केवल शब्द-भाण्डार का साम्य ही नहीं वरन् रचना साम्य भी आवश्यक होता है। उन भाषाओं की प्रकृति-प्रत्यय-रचना वाक्यान्वय, वाक्य-रचना, पदरचना, कृदन्त तथा तद्धित आदि के नियमों एवं अन्य व्याकरणिक नियमों में भी समानता होनी चाहिए। उदाहरणार्थ

संस्कृत और ग्रीक दोनों स्वर-प्रधान हैं। दोनों संहित भाषाएँ है। संस्कृत के आत्मने तथा परस्मै पद के समान ग्रीक में भी Active Voice तथा Middle Voice होते हैं। दोनों में द्विवचन मिलता है, दोनों में निपातों की प्रचुर संख्या है और दोनों में समास होते हैं। इसी प्रकार भारोपीय परिवार की अन्य भाषाओं में भी पारस्परिक रचना-साम्य है और इसीलिए वे एक परिवार में रक्खी जाती हैं।

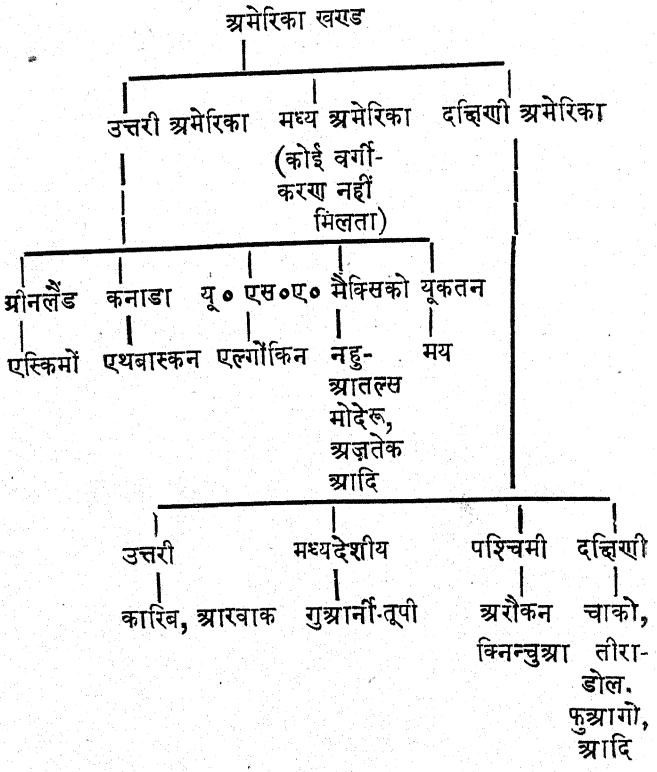

सारिणी सं—१

1960

संसार की भाषाओं के चार भौगोलिक खण्ड

भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण के उपर्युक्त द्विविध आधारों पर संसार की समस्त भाषाओं को पहले चार भौगोलिक खण्डों में विभाजित किया जाता है—(१)—अमेरिका खण्ड, (२)—प्रशान्त महा सागर खण्ड, (३)—अफ्रीका खण्ड और (४)—यूरेशिया खण्ड।

अमेरिका खण्ड की भाषाएँ

दोनों अमेरिका की भाषाएँ शेष संसार की भाषाओं से प्रायः सर्वथा भिन्न हैं। (१) ये सभी भाषाएँ रचना की दृष्टि से समास प्रधान है और इनमें समास और संघात की सभी अवस्थाएँ पाई जाती है। (२) यद्यपि इन भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन अभी तक नहीं हो पाया है परन्तु इनका स्थूल वर्गीकरण सारिणी सं० १ से स्पष्ट हो जायगा।

(३) ये सभी भाषाएँ प्रायः अविकसित और असंस्कृत अवस्था में हैं। केवल नहुआतल्स तथा मय साहित्यिक तथा सुसंस्कृत भाषाएँ हैं, जिनका उपयोग प्राचीन मैक्सिको राज्य में होता था।

प्रशान्त महासागर खण्ड की भाषाएँ

(१) प्रशान्त महासागर खण्ड की भाषाएँ प्रायः प्रत्ययप्रधान हैं और इनमें सभी स्थानों पर—पूर्व, अन्तः तथा पर स्थानों पर प्रत्ययों का उपचय होता है। इन भाषाओं के पांच प्रधान परिवार हैं—(१)-मलय परिवार, (२)—मलयेनेशियन परिवार, (३)—पालीनेशियन परिवार, (४)—आस्ट्रेलिया परिवार और (५)-पापुआ परिवार। इनमें से प्रथम तीन परिवार बड़े हैं और एक साथ 'मलय-पालीनेशियन' के नाम से पुकारे जाते हैं। पांचों परिवारों को आस्ट्रिक भाषा-समूह भी कहा जाता है। इनमें से मलय परिवार की भाषाएँ मलाया, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलीपाइन्स, निकोबार, फारमोसा आदि द्वीपों में; मलयेने-

शियन परिवार की भाषाएँ न्यूगिनी से फिजी द्वीप समूह तक, पाली-नेशियन परिवार की भाषाएँ न्यूजीलैंड में; आस्ट्रेलिया परिवार की आस्ट्रेलिया में और पापुआ परिवार की न्यूगिनी के कुछ भागों में बोली जाती हैं। इनका वर्गीकरण निम्न सारिणी में स्पष्ट है—

प्रशान्त महासागर खण्ड की भाषाएँ

(आस्ट्रिक भाषा-समूह)

मलयपरिवार	मलयेनेशियन परिवार	पालीनेशियन परिवार	आस्ट्रेलिया परिवार	पापुआ परिवार

सारिणी सं—२

इन भाषाओं में अभ्यास की प्रधानता है। धातुएँ द्वयक्षर होती हैं। बलाघात प्रथम अक्षर पर होता है। संज्ञा शब्दों में रूप भेद तथा लिंग भेद नहीं होता। इन पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा है। नागरी, रोमन तथा अरबी लिपियाँ ही कुछ हेर-फेर के साथ प्रयुक्त होती हैं। प्रायः सभी भाषाएँ अविकसित और असंस्कृत हैं।

अफ्रीका खण्ड की भाषाएँ

इस खण्ड में अफ्रीका में बोली जाने वाली सभी भाषाएँ आती हैं। ये भाषाएँ पाँच प्रमुख परिवारों में रक्खी जाती हैं-(१)-बुशमान समुदाय, (२)-बाँटू परिवार (३)-सूडान परिवार (४)-हैमेटिक परिवार और (५)-सेमेटिक परिवार।

(१) बुशमान वर्ग की भाषाएँ दक्षिणी अफ्रीका में पाई जाती हैं। इस वर्ग में अफ्रीका की सबसे अधिक प्राचीन तथा आदिम भाषाएँ आती हैं। ये संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर विकसित हो रही हैं। दक्षिणी अफ्रीका के उत्तरी भाग में अर्थात् भूमध्य रेखा के (२) दक्षिण में पूर्व से पश्चिम तक बाँटू परिवार की भाषाएँ बोली जाती

हैं। ये भाषाएँ पूर्व-प्रत्यय-प्रधान हैं और इनमें व्याकरणिक लिंगभेद नहीं होता। सूडान परिवार की भाषाएँ भूमध्य रेखा के उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक बोली जाती हैं। ये भाषाएँ व्यास-प्रधान हैं। इनकी धातुएँ एकाक्षर होती हैं। इनमें लिंगभेद नहीं होता और विभक्तियाँ भी प्रायः नहीं पाई जातीं। हैमेटिक परिवार की भाषाएँ सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका में फैली हुई हैं। इस परिवार की भाषाएँ बड़ी प्राचीन हैं और इनमें से बहुतेरी बोलियाँ या तो नष्ट हो गई हैं या नष्टप्राय हैं, कुछ का पता तो केवल प्राचीन अभिलेखों से ही लगता है। इनमें मिस्री, काप्टिक, सोमाली, गल्ला, लीबियन, हाउसा, मसाइ, नम और फूला आदि प्रमुख हैं। इनमें से फूला भाषाएँ बाँटू से और हाउसा सूडानी से बड़ी प्रभावित हैं। इन भाषाओं में पूर्व विभक्तियाँ और परविभक्तियाँ होती हैं। लिंग तथा वचन व्याकरणिक होते हैं। ये सभी भाषाएँ सेमेटिक भाषाओं से पर्याप्त प्रभावित हुई हैं। सेमेटिक परिवार की भाषाएँ अफ्रीका में अरब विजेताओं के साथ आई हैं और आजकल मोरक्को, अलजीरिया, ट्यूनीशिया, मिस्र आदि देशों में बोली जाती हैं। इनका विस्तृत वर्णन यूरेशिया खण्ड की भाषाओं के साथ किया जायगा क्योंकि ये मूलतः उसी खण्ड की भाषाएँ हैं।

अफ्रीका खण्ड की भाषाओं का वर्गीकरण अगले पृष्ठ पर दी हुई सारिणी से भलीभाँति स्पष्ट हो जायगा।

यूरेशिया खण्ड की भाषाएँ

यूरेशिया खण्ड की भाषाएँ सर्वप्रमुख हैं। यहाँ की भाषाओं में विश्व की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति निहित है। इस खण्ड की प्रायः सभी भाषाएँ साहित्यिक और समृद्ध हैं। इनका वैज्ञानिक अध्ययन और अनुशीलन भी हुआ है। इस खण्ड की भाषाओं को सात परिवारों में बाँटा जाता है—

यूरेशिया खण्ड की भाषाओं के परिवार

१. विविध समुदाय
२. यूराल-अल्ताई परिवार
३. काकेशस परिवार
४. चीनी परिवार
५. द्राविड़ परिवार
६. सेमेटिक परिवार
७. भारोपीय परिवार

अब हम इन परिवारों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

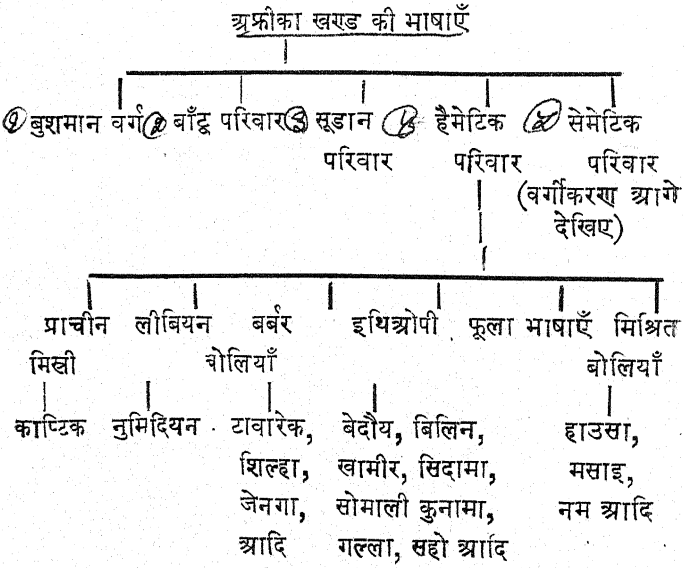

सारिणी सं०—३

१—विविध समुदाय

विविध समुदाय में वे भी भाषाएँ रक्खी जाती हैं जिनको किसी ज्ञात परिवार में अभी तक नहीं रक्खा जा सका है। अभी तक के अध्ययन के परिणामस्वरूप ये भाषाएँ अन्य छः परिवारों में से किसी भी परिवार की नहीं सिद्ध होती हैं और इसलिए इन्हें एक अलग समुदाय में एकत्रित कर दिया गया है। इस समुदाय में सभी भाषाएँ एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, उनमें सजातीयता नहीं है। विविध समुदाय में कुछ प्राचीन एवं मृत भाषाएँ आतीं हैं और कुछ आधुनिक। प्राचीन भाषाएँ मुख्यतः दो हैं—एट्रुस्कन और सुमेरियन। एट्रुस्कन भाषा इटली में रोम साम्राज्य की स्थापना के पूर्व प्रयुक्त होती थी। इस भाषा के कुछ शिलालेख और एक पुस्तक भी उपलब्ध हैं। सुमेरियन भाषा ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व ही मृत हो चुकी थी। यह भाषा इसके पूर्व बेबीलोन में सुमेरियन जाति के लोगों के द्वारा प्रयुक्त होती थी और असीरियन आक्रमण के समय नष्ट हो गई परन्तु असीरियन विद्वानों ने सुमेरियन भाषा के विशाल साहित्य की रक्षा की थी। यह एक अत्यन्त समृद्ध भाषा थी। यह भाषा प्रत्यय-प्रधान है और कुछ विद्वान इसका संबंध यूराल-अल्ताई परिवार से जोड़ते हैं परन्तु यह अभी निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं हो सका है। आधुनिक भाषाओं में बास्क (Basque) यूरोप के वेस्ट पिरेनीज़ (फ्रांस और स्पेन का सीमावर्ती प्रदेश) में बोली जाती है। यह प्रत्यय-प्रधान भाषा है और कुछ कुछ सामासिकता की ओर भी झुकती है। जापानी भाषा जापान में बोली जाती है। यह बड़ी समुन्नत भाषा है। इस पर चीनी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है और लिपि भी चीनी से मिलती जुलती है। यह पर-प्रत्यय प्रधान भाषा है और कुछ विद्वानों के अनुसार यूराल-अल्ताई परिवार की ओर झुकती है। कोरिया की कोरियाई भाषा भी प्रत्यय-प्रधान है और कुछ लोग पहले इसे यूराल-अल्ताई परिवार से संबद्ध मानते थे। इस भाषा पर मंगोली तथा मंचू

भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। पन्द्रहवीं शताब्दी में इस भाषा के लिए एक लिपि का निर्माण हुआ था जो भारतीय लिपि पर आधारित है। तब से इसी लिपि में यह भाषा लिखी जाती है। बुद्ध धर्म के प्रसार के साथ साथ इस पर भी चीनी भाषा और संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। एशिया के सुदूर उत्तरी पूर्वी क्षेत्र में बोली जाने वाली हाइपर बोरी भाषाएँ भी इसी समुदाय में रक्खी जाती हैं। कारेन, मान और अण्डमानी भाषाएँ भी अभी तक किसी परिवार में नहीं रक्खी जा सकी हैं और इसी समुदाय में आती हैं। विविध समुदाय की भाषाओं का विभाजन निम्न सारिणी से स्पष्ट हो जायगा।

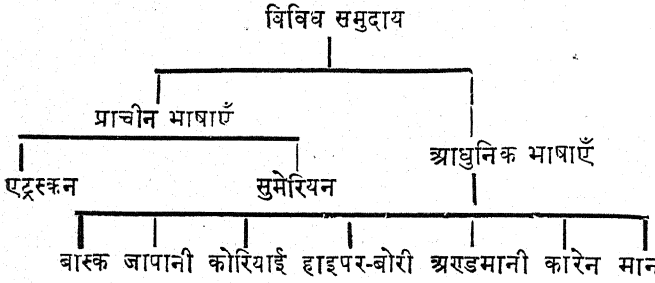

सारिणी सं० ४

(२)—यूराल-अल्ताई परिवार

यूराल अल्ताई परिवार की भाषाएँ आजकल अटलांटिक सागर से ओखोटस्क सागर तक फैली हुई हैं और कहीं-कहीं भूमध्यसागर तक भी पहुँच गई हैं। इन्हें यूराल अल्ताई परिवार का नाम इसलिए दिया गया है कि यूराल और अल्ताई पर्वतों के मध्य का प्रदेश ही इनका मूल और मुख्य स्थान है और ये यहीं से अन्यत्र फैली हैं। इस परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण सारिणी सं० ५ में दिया गया है।

इस परिवार की फिनिश, मेग्यर तुर्की और मंगोली में उन्नत साहित्य मिलता है और अब तो उज़बेक, अज़रबजान, यारक़न्दी आदि के विकास की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। ये सभी भाषाएँ पर-प्रत्यय-प्रधान हैं और इनमें स्वरों की अनुरूपता मिलती है। ये सभी भाषाएँ ध्वनि, पद-निर्माण तथा शब्दावली में अधिक समान हैं, व्याकरण और रचना में कम।

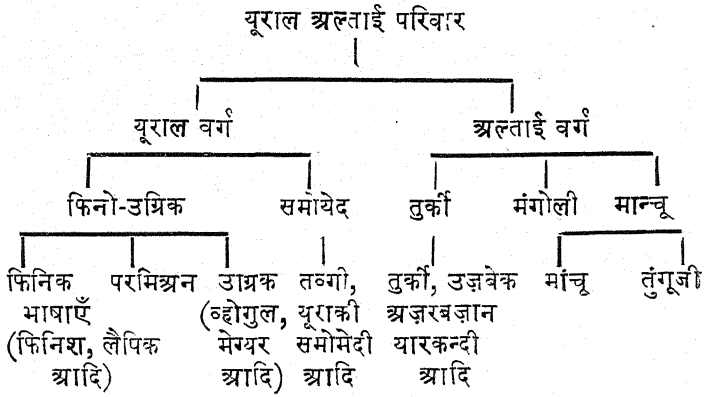

सारिणी सं० ५

३—चीनी या एकाक्षरी परिवार

एशिया के पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी भाग में एकाक्षरी परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। भारोपीय के बाद सबसे अधिक बोलनेवाले इसी परिवार की भाषाओं के हैं। इस परिवार की चीनी भाषा के बोलने वाले संसार में संख्या की दृष्टि से द्वितीय हैं। इस भाषा के बोलने वालों में भौगोलिक एकता के अतिरिक्त धार्मिक और सांस्कृतिक एकता भी है। इस परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण सारिणी सं० ६ में दिया हुआ है।

इनमें से आनमी और स्यामी भाषाओं पर चीनी का प्रभाव पड़ा है और वे चीनी की ही भाँति एकाक्षर, स्थान-प्रधान और सुर-प्रधान हैं। तिब्बती-बर्मी भाषाएँ भारतीय-आर्य-भाषाओं से बड़ी प्रभावित हैं। तिब्बती भाषा का साहित्य तो संस्कृत और पाली ग्रंथों के अनुवादों से भरा पड़ा है। उनकी लिपि भी ब्राह्मी से ही निकली है। इन भाषाओं में धातुएँ एकाक्षर होती हैं और ये प्रत्यय-संयोग-प्रधान भाषाएँ हैं। इस परिवार की प्रमुख भाषा चीनी है। यह निरवयव भाषा

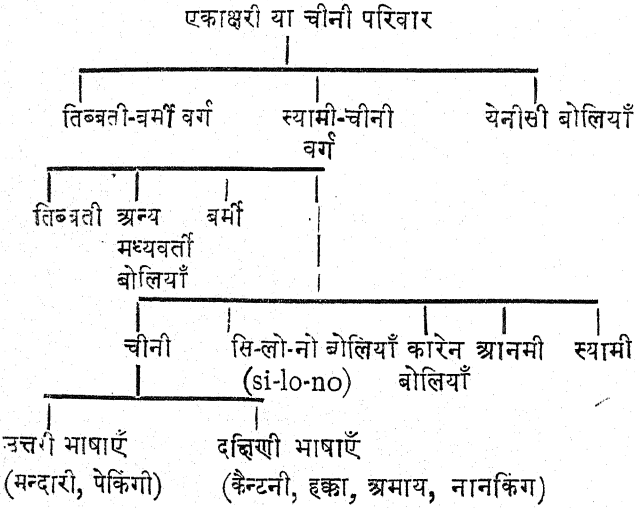

सारिणी सं०—६

है। यह एकाक्षरी, व्यास-प्रधान और व्याकरण-रहित है। स्थान-प्रधान, सुर-प्रधान तथा निपात-प्रधान होने की दृष्टि से यह आदर्श नियोग भाषा है। इसमें शब्दों को अर्थयुक्त और अर्थहीन (रूपमात्र) में बाँटा जाता है। चीनी की प्रमुख भाषाओं में मन्दारी और कैन्टनी को लिया जा सकता है, जो साहित्यिक दृष्टि से भी समुन्नत हैं।

चीनी भाषा और साहित्य का इतिहास बड़ा पुराना है और इसमें पिछले पांच हजार वर्ष की सभ्यता तथा संस्कृति की अमूल्य निधि भरी पड़ी है। प्राचीन चित्र लिपि भी चीनी बोलने वालों की ही देन थी जो आधुनिक चीनी लिपि के रूप में विकसित हुई है।

४—काकेशस परिवार

इस परिवार की भाषाएँ काले सागर और कैस्पियन सागर के मध्य फैले हुए काकेशस पर्वत के दुर्गम प्रदेश में बोली जाती हैं। पर्वतीय प्रदेश होने के कारण भाषाओं की संख्या बहुत अधिक है परन्तु साहित्यिक और समुन्नत भाषाओं में केवल जार्जियन का ही नाम लिया जा सकता है। ये भाषाएँ पूर्व प्रत्यय और पर प्रत्यय दोनों का उपचय करती हैं। ये संयोग-प्रधान भी हैं। इनका व्याकरण बड़ा जटिल है। इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जाता है :—

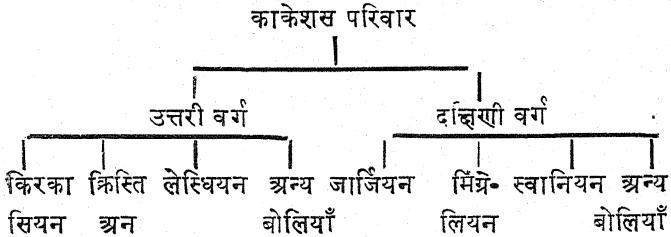

सारिणी सं—७

५—द्राविड परिवार

द्राविड परिवार की भाषाएँ भारत और पाकिस्तान में बोली जाती हैं। भारत वर्ष में भारतीय आर्य भाषाओं के उपरान्त दूसरा महत्वपूर्ण भाषा परिवार द्राविड परिवार ही है। द्राविड परिवार की भाषाएँ चार वर्गों में बाँटी जाती हैं—(१) ब्राहुई वर्ग (२)—मध्यवर्ती वर्ग (३)—आंध्र वर्ग (४)—द्राविड़ वर्ग।

(अ) ब्राहुई वर्ग—ब्राहुई बोली पाकिस्तान के सुदूर क़लात प्रदेश में बोली जाती है। यद्यपि इसके बोलने वालों ने समीपवर्ती सिंधी तथा बलूची आदि भाषाओं को अपना लिया है परन्तु फिर भी इसके बोलने वाले डेढ़ लाख के लगभग हैं।[1]

(आ) मध्य वर्ती वर्ग—मध्यवर्ती वर्ग की बोलियों में गोंडी, कुई, कुरुख, मल्तो, कोलामी आदि मुख्य हैं। इनमें गोंडी बोली गोंडवाना के उत्तर से लेकर उड़ीसा, बरार, चेदि-कोशल और मालवा के सीमांत तक रहने वाले गोंड जाति के लोगों में बोली जाती है। यह बोली यद्यपि काफी पुरानी है परन्तु न तो कभी उन्नत और समृद्ध भाषा ही बन पाई है और न कभी इसमें साहित्य रचना आदि ही हुई है। यह बोली तेलुगु के स्थान पर द्राविड वर्ग की भाषाओं से अधिक प्रभावित है। कुई बोली दक्षिणी उड़ीसा की जंगली जातियों में बोली जाती है। यह तेलुगु से प्रभावित प्रतीत होती है। छत्तीसगढ़ और छोटा नागपुर में रहने वाले कुरुख या ओराँव लोग कुरुख या ओराँव बोली बोलते हैं। इस पर भी द्रविडवर्ग की भाषाओं का अधिक प्रभाव पड़ा है। राजमहल की पहाड़ियों में बोली जानेवाली माल्तो इसीकी एक उपबोली है। कोलामी पश्चिमी बरार की जंगली जातियों के द्वारा बोली जाती है। यह तेलुगु से कुछ साम्य रखती है। इसके बोलने वाले बहुत अल्पसंख्या में बच रहे हैं और कम होते जा रहे हैं।

(इ) आंध्रवर्ग—आंध्रवर्ग में तेलुगु भाषा आती है। इसके

१—ब्राहुई बोलने वालों की यह संख्या Linguistic Survey of India—G. A. Grierson के अनुसार है। देश के विभाजन तथा जनता के इधर उधर आने जाने से एवं पश्चिमी पाकिस्तान की राजभाषा उर्दू होने से ब्राहुई बोलने वालों की संख्या पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसकी अभी तक कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती है।

बोलने वाले दक्षिणी भारत के दक्षिण-पूर्व में पाये जाते हैं और द्राविड़ भाषाओं में सबसे अधिक बोलने वाले तेलुगु के ही हैं। यह भाषा तामिळ से अधिक अर्वाचीन है क्योंकि इसका साहित्य दसवीं शताब्दी से पूर्व का नहीं लगता परन्तु आजकल यह तामिळ से भी अधिक समुन्नत और समृद्ध है। इस पर संस्कृत का बड़ा प्रभाव पड़ा है। यह बड़ी मधुर भाषा है। इसके सभी शब्द स्वरान्त होते हैं; व्यंजन पदान्त में आता ही नहीं है।

(ई) द्राविडवर्ग—द्राविडवर्ग में तामिळ, मलयालम, कन्नड, तुळु, कोडगु तथा टोडा भाषाएँ आती हैं। द्राविडवर्ग की भाषाओं में तामिळ सबसे अधिक उन्नत, समृद्ध तथा साहित्यिक भाषा है। इसका वाङ्मय विशाल है। इसमें तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक का साहित्य उपलब्ध होता है। आधुनिक तामिळ का साहित्य भी बहुत समृद्ध है। तामिळ भाषा के दो रूप पाए जाते हैं–१–शेन (=पूर्ण)—यह साहित्य तथा काव्य रचना की भाषा है। और २—कोडुन् (=गवाँरू)—यह बोलचाल की भाषा है। मलयालम नवीं शताब्दी के आस-पास प्राचीन तामिळ से अलग हो गई थी और तब से यह भारत से दक्षिण-पश्चिमी समुद्र तट पर बोली जाती है। आजकल यह तिरुवांकुर कोचीन में प्रयुक्त होती है। इस भाषा पर संस्कृत का बड़ा प्रभाव पड़ा है। कन्नड भाषा मैसूर और उसके चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है। इसमें अच्छा साहित्य है। इसका संबंध तामिळ से अधिक है परन्तु लिपि तेलुगु लिपि से मिलती जुलती है। तुळु भाषा बहुत छोटे क्षेत्र में बोली जाती है। इसमें यद्यपि साहित्य-रचना नहीं हुई है परन्तु यह उन्नत और विकसित भाषा है।[1]

---

१ "Despite the fact that is has no literature.....it is the most highly developed language of the Dravadian family." Caldwell—Comparative Grammar of the Dravadian Languages—page 31,

कोडगु कन्नड और तुळु के बीच की भाषा है और उसमें दोनों की विशेषताएँ मिलती हैं। टोडा और कोटा बोलियाँ नीलगिरि पर्वतों में रहने वाली जंगली जातियों की बोलियाँ हैं और प्रायः मरणोन्मुख हैं। द्राविड परिवार की इन भाषाओं का यह वर्गीकरण निम्नसारिणी से भलीभाँति समझा जा सकता है :—

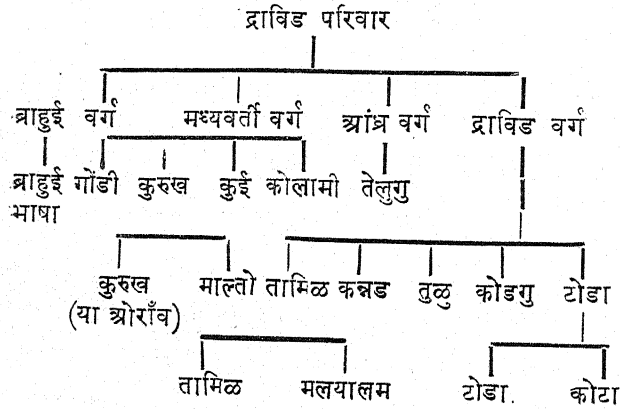

सारिणी सं०—८

द्राविड परिवार की भाषाएँ प्रत्यय-प्रधान और अनेकाक्षर हैं। इनमें पर-प्रत्ययों का ही उपचय होता है। प्रत्यय-संयोग स्पष्ट होता है और प्रकृति में विकार नहीं आता। इन भाषाओं में ए और ओ की दो दो ध्वनियाँ हैं। एक ह्रस्व ए और दूसरा दीर्घ ए, एक ह्रस्व आ और दूसरा दीर्घ ओ [$\overset{v}{e}, \overset{v}{o}, \bar{e}, \bar{o}$]। निर्जीव पदार्थ नपुंसक लिंग होते हैं। नपुंसक लिंग शब्दों के बहुवचन रूप नहीं होते। सजीव में स्त्री लिंग वाची और पुल्लिङ्ग वाची प्रत्यय लगाई जाती हैं। विशेषण अविकृत रहता है। उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप होते हैं,

जिनमें से एक में श्रोता भी अन्तर्भूत होता है। इन भाषाओं में कर्मवाच्य प्रायः नहीं होता। विभक्तियों के लिए परसर्गों का प्रयोग होता है। इनमें स्वर अनुरूपता भी मिलती है। मूर्धन्य वर्ण और र तथा ल का प्रत्यय इन भाषाओं की अपनी विशेषता है।

६—सेमेटिक परिवार

सेमेटिक परिवार की भाषाएँ बड़ी प्राचीन और महत्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इस परिवार का बड़ा महत्व है। इस्लाम और ईसाई धर्म के धर्मग्रन्थ इसी परिवार की भाषाओं में सर्वप्रथम लिखे गए थे और इसी भाषा के बोलने वालों ने लिपि का ज्ञान बहुतेरे भाषा-भाषियों को प्राचीन काल में कराया था। किसी समय सामी लिपि का प्रचार भारत और चीन को छोड़कर यूरेशिया के एक बहुत बड़े भूभाग में था। इस परिवार की भाषाओं का प्राचीनतम इतिहास ईसा से प्रायः एक हजार वर्ष पूर्व तक मिलता है। सेमेटिक भाषाओं का वर्गीकरण सारिणी सं० ६ से भलीभाँति स्पष्ट हो जायगा। *

सेमेटिक भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ

सेमेटिक परिवार की सभी भाषाएँ एक दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं। इतनी समीपता किसी भी परिवार की भाषाओं में नहीं पाई जाती। ध्वनि-जन्य अल्प-भेदों को छोड़कर इनमें विशेष अंतर नहीं है। आधुनिक सेमेटिक भाषाओं में हिब्रू और अरबी प्रमुख हैं, परन्तु इस परिवार की वास्तविक प्रतिनिधि तो अरबी ही है। ये सभी भाषाएँ संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जा रही हैं। वर्तमान अरबी लिपि प्राचीन सामी लिपि से उद्भूत है। सेमेटिक भाषाओं की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(१) धातुएँ त्रैवर्णिक होती हैं। उनमें से किसी भी व्यंजन में कोई विकार शब्द-सिद्धि में नहीं होता। उदाहरणार्थ क़तुल्, हक़म्, क़तब् आदि। (२) अंतरङ्ग

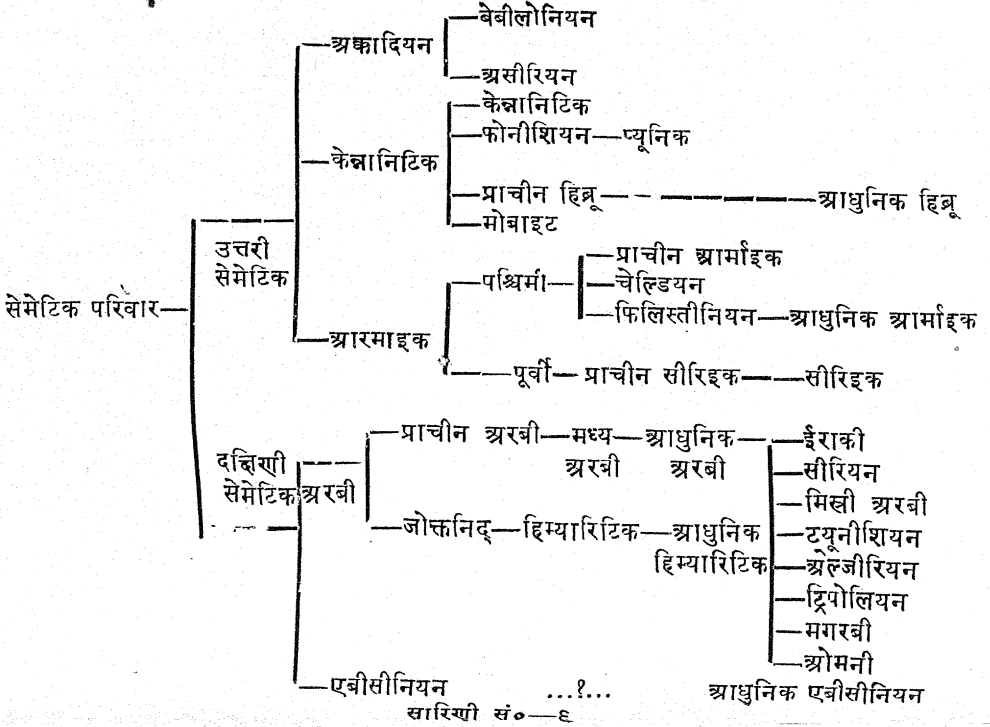
सेमेटिक परिवार
उत्तरी सेमेटिक
अक्कादियन
बेबीलोनियन
असीरियन
केन्नानिटिक
केन्नानिटिक
फोनीशियन—प्यूनिक
प्राचीन हिब्रू——आधुनिक हिब्रू
मोबाइट
आरमाइक
पश्चिमी—प्राचीन आर्माइक
चेल्डियन
फिलिस्तीनियन—आधुनिक आर्माइक
पूर्वी—प्राचीन सीरिइक——सीरिइक
दक्षिणी सेमेटिक
अरबी
प्राचीन अरबी—मध्य अरबी—आधुनिक अरबी
ईराकी
सीरियन
मिस्री अरबी
ट्यूनीशियन
अल्जीरियन
ट्रिपोलियन
मगरबी
ओमनी
जोक्तनिद्—हिम्यारिटिक—आधुनिक हिम्यारिटिक
एबीसीनियन
आधुनिक एबीसीनियन

सारिणी सं०—६

स्वर भेद के द्वारा धातुओं से शब्दों की रचना की जाती है। जैसे क़्तूब् से किताब, कातिब आदि। ये अन्तर्विभक्तियाँ सामी भाषाओं की अपनी विशेषता हैं। (३) इन अन्तर्विभक्तियों की पूरकता के लिए कुछ पूर्व और पर-प्रत्यय भी प्रयोग में लाए जाते हैं; जैसे—अक्तब (उसने लिखवाया), तक्तुबू (वह लिखती है), क़तबत् (उसने लिखा), क़तब्ना (हमने लिखा), नक्तूबू (हम लिखते हैं) आदि। (४) लिंग-भेद व्याकरणिक होता है। नपुंसक लिंग नहीं होता। (५) केवल तीन कारक होते हैं—कर्त्ता, कर्म एवं संबंध। तीनों के लिए परसर्गों का प्रयोग होता है। कर्म और संबध में अन्य सभी कारकों का अन्तर्भाव हो जाता है। (६) संबंध वाचक सर्वनाम संज्ञा पद के अंत में जोड़ दिए जाते हैं। जैसे—कतबइ (मेरी किताब) आदि। (७) इन भाषाओं में समास नहीं होते।

७—भारोपीय परिवार 1965 1969

भारोपीय परिवार संसार का सबसे बड़ा और सबसे महत्वपूर्ण परिवार है। विश्व का प्राचीनतम साहित्य, संस्कृति और सभ्यता इसी परिवार की भाषाओं में सुरक्षित है। इन भाषाओं के बोलने वाले सदैव से संसार के हर क्षेत्र में अगुआ और सिरमौर रहे हैं। इसी परिवार की प्राचीन भाषाओं संस्कृत और ग्रीक आदि के अध्ययन के आधार पर ही आधुनिक भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ है। इसी परिवार की एक भाषा अंग्रेजी संसार में सबसे अधिक बोली जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बन रही है। इसी परिवार की भाषा हिन्दी के बोलने वाले संसार में संख्या की दृष्टि से तीसरे हैं।

शतम् और केण्टुम वर्ग

इस परिवार की सभी भाषाएँ एक ही मूल भाषा से निकली हैं जिसका काल्पनिक नाम मूल भारोपीय भाषा रक्खा गया है। प्रागैतिहासिक काल में जब इस भाषा के बोलने वालों ने अपने मूल

निवास स्थान को छोड़ा तो ये लोग दो भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर चले गए और उस समय भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण उनमें परिवर्तन आ गया। धीरे-धीरे यह भाषा ऐतिहासिक काल तक दस शाखाओं में बँट गई। इन सभी भाषाओं की तुलना करने पर इन्हें दो वर्गों में रक्खा जा सकता है—शतम् वर्ग और केन्टुम वर्ग। इसके अनुसार ग्रीक, लैटिन आदि में मूल भारोपीय के तालव्य वर्ण कण्ठ्य हो गए और संस्कृत आदि में घर्षक-ऊष्म, अर्थात् मूल भाषा का च वर्ग[1] केन्टुम वर्ग में 'क' और शतम् वर्ग में 'श' के रूप में परिवर्तित हो गया। इस बात का उदाहरण सो के लिए इन भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों से दिया जाता है—

*चंतोम[2] (*मूल भारोपीय) शतम् (संस्कृत), सतम (अवेस्ता), शिंतस (लिथु आनियन), श्युटो (बल्गेरियन), स्तो (रूसी), केन्टुम (लैटिन) हेक्टुम् (ग्रीक), केत् (आयर्रिश), खुंद[3] (गाथिक), कंध (तोखारी)।

इन्हीं शब्दों में से शतम् और केन्टुम—दो शब्दों के आधार पर इन दो वर्गों का नाम करण किया गया है। इस संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त विभाजन भौगोलिक विभाजन नहीं है, क्योंकि १८७० ई० में जब अस्कोली ने इसका पता लगाया था और फान ब्राडके (von Bradke) ने यह वर्गीकरण किया था। उस समय यह माना जाता था कि केन्टुम पश्चिमी वर्ग है और शतम् पूर्वी। परन्तु हित्ती तथा तोखारियन भाषाओं की खोजने इस धारणा

१—इस च वर्ग में निम्न ध्वनियाँ आती हैं—k͡, kh͡, g͡, gh͡.

२—ध्वन्यात्मक रूप— [k͡mtom]

३—ध्वन्यात्मक रूप—[hund]—द्वितीय वर्ण परिवर्तन के कारण 'क' का 'ख' हो गया है। मूल व्यंजन 'क' ही रहा है।

को भ्रांत सिद्ध कर दिया है। यह द्विधा वर्गीकरण केवल भाषा-गत है और इसमें निम्न उपभेद आते हैं। शतम् वर्ग—आर्य ईरानी, बाल्टिक, स्लाव्हिक, आर्मीनियन, एल्वेनियन। केन्टुम वर्ग—ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, कैल्टिक, हित्ती और तोखारियन। यह विभाजन निम्न सारिणी से भली भाँति स्पष्ट हो जायगा—

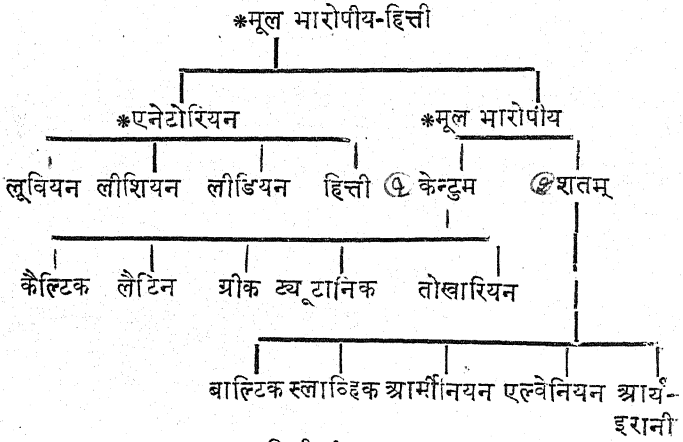

सारिणी सं०—१०

केन्टुम वर्ग की भाषाएँ

१—हित्ती भाषा

इस शताब्दी के प्रथम दशक के अन्त के आसपास एशिया माइनर के बोगाज़ कुई नामक स्थान में जो खुदाई हुई है, उसमें सहस्रों की संख्या में अभिलेख और शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इन शिलालेखों से प्रथम और द्वितीय हित्ताइट राज्यों के विषय में जानकारी होती है। ये लेख वास्तव में हित्ती राज्य के कागज-पत्र के रूप में रहे हैं। इनमें भाषा का जो रूप मिलता है वह प्रायः दो हजार से पन्द्रह सौ वर्ष ईसा पूर्व का माना जाता है। प्रारम्भ में

साइस आदि उसे सेमेटिक परिवार की भाषा मानते थे परन्तु ह्राजनी (Hrozny) तथा स्टुरटेवेन्ट (Sturtevant) आदि के अध्ययन से यह सिद्ध हो गया है कि यह भारोपीय परिवार की ही भाषा है और इस पर सेमेटिक परिवार का प्रभाव पड़ा है। इस भाषा का स्वरूप इतना प्राचीन है कि अब विद्वानों का विचार है कि मूल भारोपीय भाषा और हित्ती भाषा का भगिनी का संबंध है। ये विद्वान एक मूल भारोपीय-हित्ती भाषा की कल्पना करते हैं जिससे एक ओर हित्ती और दूसरी ओर मूल भारोपीय का विकास हुआ है। उपर्युक्त सारिणी में इसी नवीन मत के अनुसार वर्गीकरण किया गया है। यह भाषा केण्टुम वर्ग की है और इसका व्याकरणिक ढाँचा बहुत कुछ मूल भारोपीय से मिलता हुआ है।

२—तोखारियन

हित्ती के समान इसकी खोज भी इसी शताब्दी में फ्रेंच तथा जर्मन विद्वानों के द्वारा मध्य एशिया के तुरफान प्रदेश में की गई है। यह भाषा विशेष अध्ययन के फलस्वरूप भारोपीय परिवार के केण्टुम वर्ग की ही सिद्ध हुई है। इस भाषा पर यूराल-अल्ताई परिवार की भाषाओं का काफी प्रभाव पड़ा है। इस भाषा के अभिलेखों का विशेष अध्ययन सीग (Seig) नामक विद्वान ने किया है। यह भाषा भी ईसा पूर्व की ही है और इसका स्वरूप भी बड़ा आर्ष है। इसमें दो भिन्न-भिन्न उपभाषाएँ दिखाई पड़ती हैं, जो क्रमशः उपभाषा 'अ' और उपभाषा 'ब' कही गई हैं। तोखारी और हित्ती भाषाओं की खोज से मूल भारोपीय भाषा के विषय में निश्चित निष्कर्ष निकालने में बड़ी सहायता मिली है और इस दृष्टि से इन दोनों का ही बड़ा महत्व है।

३—कैल्टिक

प्राचीन काल में इस भाषा वर्ग का आयर्लैंड से लेकर एशिया माइनर तक प्रचार था परन्तु अब इसका क्षेत्र बहुत संकुचित हो

गया है और यह यूरेशिया के पश्चिमोत्तरी खण्डों में ही बोली जाती है। यह भाषा-वर्ग लैटिन भाषाओं से पर्याप्त साम्य रखता है। लैटिन भाषा-शाखा की ही भाँति इसके दो वर्ग हैं—कवर्गीय कैल्टिक और पवर्गीय कैल्टिक। एक वर्ग में जहाँ 'क' पाया जाता है वहाँ दूसरे वर्ग में 'प' पाया जाता है जैसे वेल्श में पाँच के लिए 'पंप' कहते हैं और आयरिश में 'कॉइकर'। कैल्टिक शाखा का तीसरा भेद 'गालिश' या 'गालिक' है। गालिक भाषा गाल जाति के लोगों के द्वारा बोली जाती थी और उन्होंने इसका प्रसार एशिया माइनर तक किया था। सीज़र के आक्रमण के उपरान्त यह भाषा नष्ट हो गई और अब प्राचीन गाल प्रदेश में लैटिन भाषाएँ बोली जाती हैं। कवर्गीय गायलिक वर्ग में तीन भाषाएँ हैं—स्काच गायलिक जो ११ वीं शताब्दी तक स्काटलैंड में बोली जाती थी और नष्ट हो गई है। मैंक्ख Isle of man में बोली जाती है और प्रायः नष्ट प्राय है। केवल आयरिश ही आयर्लैंड में पर्याप्त लोगों के द्वारा बोली जाती है और आयर्लैंड की स्वाधीनता के बाद से समृद्ध और समुन्नत बन रही है। पवर्गीय ब्रिटानिक वर्ग की कार्निश भाषा तो नष्ट हो चुकी है। ब्रेटन पश्चिमोत्तर फ्रांस में बोली जाती है। वेल्श भाषा साहित्यिक और समृद्ध भाषा है और वही इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। इन भाषाओं का वर्गीकरण निम्न सारिणी में देखिए—

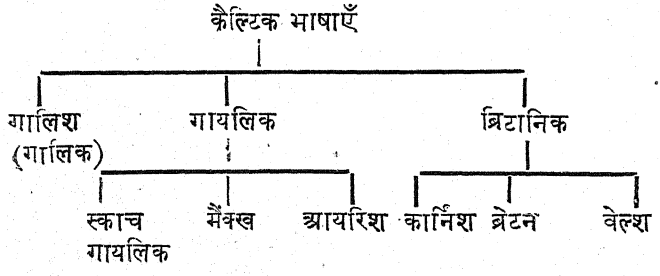

सारिणी सं०—११

४—ट्यूटानिक[1] शाखा

इस शाखा की भाषाएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनकी प्रवृत्ति प्राचीन काल से ही संहित से व्यवहित की ओर रही है। इन सभी भाषाओं में आद्य स्वर पर बल देने की विशेषता मिलती है। इन भाषाओं

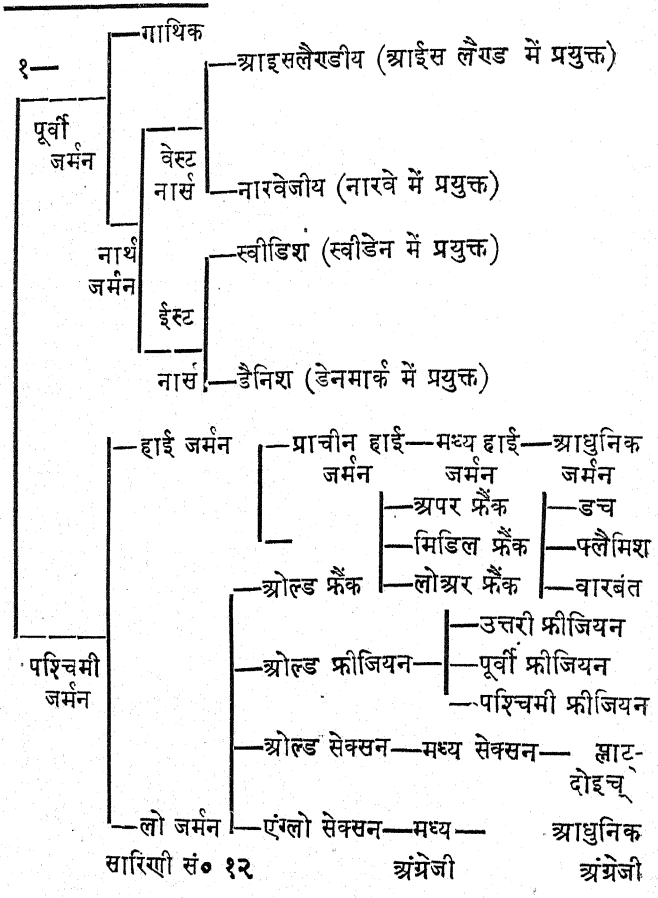

सारिणी सं० १२

के ध्वनिसमूह के विकास में वर्ण-परिवर्तन के दो नियमों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम वर्ण-परिवर्तन तो प्रागैतिहासिक काल में हुआ था और द्वितीय वर्ण-परिवर्तन ईसा की सातवीं शताब्दी में केवल पश्चिम जर्मन भाषाओं में। उसी समय से हाई और लो जर्मन का विकास हुआ है। ट्यूटानिक भाषाओं का वर्गीकरण सारिणी सं० १२ से स्पष्टतया समझा जा सकता है।

वर्तमान ट्यूटानिक भाषाओं में ओल्ड हाई जर्मन की प्रतिनिधि आधुनिक जर्मन और ओल्ड सेक्सन की प्रतिनिधि अंग्रेजी महत्वपूर्ण भाषाएँ हैं। अंग्रेजी का क्षेत्र तो बड़ा व्यापक है और उसका प्रचार दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। प्लाट्-दोइच् उत्तरी जर्मनी में बोली जाती है और हालैंड तथा पश्चिमोत्तरी जर्मनी में डच और फ्रीजियन बोली जाती हैं। मिडिल फ्रैंक में हाई और लो जर्मन दोनों के लक्षण मिलते हैं और यह मध्यवर्ती भाषा कही जा सकती है।

५—लैटिन[1] शाखा

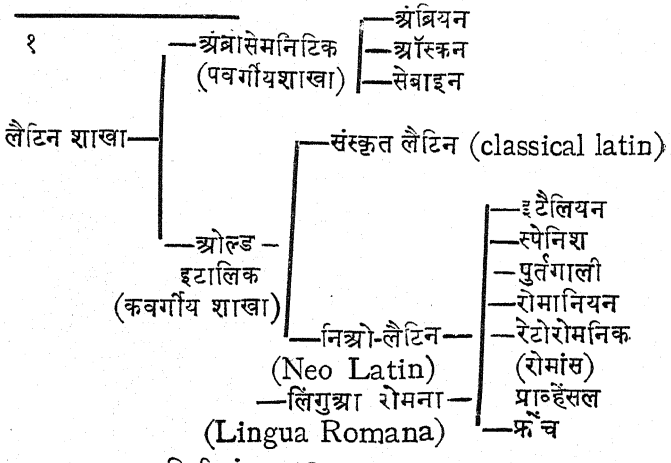

सारिणी सं०—१३

इस शाखा की प्रधान और साहित्यिक भाषा लैटिन रही है। इसका प्रसार विशाल रोम साम्राज्य के साथ-साथ पश्चिमी यूरोप में हुआ था। इसकी भाषाओं की प्रवृत्ति संहित से व्यवहित की ओर रही है। इसा शाखा की भाषाओं में उपधा वर्ण पर बलाघात की प्रवृत्ति देखी जाती है। इस शाखा की भाषाओं को भी कवर्गीय और पवर्गीय दो वर्गों में बाँटा जाता है। लैटिन शाखा का पूर्ण वर्गीकरण पीछे दिया जा चुका है।

लैटिन भाषाओं के विकास का इतिहास बहुत कुछ उसी प्रकार है जैसा भारतीय आर्य भाषाओं का। प्राचीन लैटिन के सिसरो-काल तक विकसित होते होते दो रूप हो गए थे—Classical Latin और Neo-Latin। विशाल रोमसाम्राज्य के साथ यह Neo-Latin योरोपीय महाद्वीप के पश्चिमी भाग में फैल गई और कालान्तर में उसके प्रांतीय भेदों का विकास हुआ। रोम साम्राज्य के नष्ट होने पर यह प्रांतीय भिन्नता और अधिक बढ़ गई और आज दिन उससे विकसित भाषाओं में इटैलियन, फ्रेंच, स्पेनिश, पुर्तगाली, रोमांस, प्राव्हेंसल रूमानियन आदि हैं।

६— ग्रीक शाखा

ग्रीक भाषाओं को हैलनिक भाषा समूह की भी संज्ञा देते हैं। केन्टुम वर्ग की भाषाओं में यह संस्कृत से सबसे अधिक मिलती जुलती है। ग्रीक भाषा में ईसा से प्रायः बारह सौ वर्ष पूर्व तक का काफी प्रामाणिक साहित्य मिलता है और उससे ग्रीक भाषा के प्राचीन स्वरूप का सुन्दर ऐतिहासिक अध्ययन हो सका है। ग्रीक भाषा में संस्कृत से स्वर अधिक हैं और संध्यक्षरों का बाहुल्य है। विद्वानों का विचार है कि ग्रीक भाषा ने मूल भारोपीय स्वरों तथा संध्यक्षरों को सबसे अधिक सुरक्षित रखा है। संस्कृत और ग्रीक में बहुत सी समानताएँ हैं—(१) दोनों सस्वर भाषाएँ हैं। (२) परवर्ती काल में

दोनों में 'बल' का प्राधान्य हो गया। (३) दोनों संहित भाषाएँ हैं। (४) दोनों में अव्यय, समास-रचना की शक्ति, द्विवचन और निपातों का बाहुल्य है। (५) संस्कृत के परस्मै और आत्मने पद के समान ग्रीक में भी Active और Middle Voice होते हैं। (६) संस्कृत में यदि काल रचना अधिक संपन्न है तो ग्रीक में अव्यय, कृदन्त तथा क्रियार्थक संज्ञा रूपों का बाहुल्य है।

ग्रीक भाषा के विकास में चार युग माने जाते हैं—होमरिक अथवा प्राचीन ग्रीक, साहित्यिक अथवा संस्कृत ग्रीक, मध्यकालीन

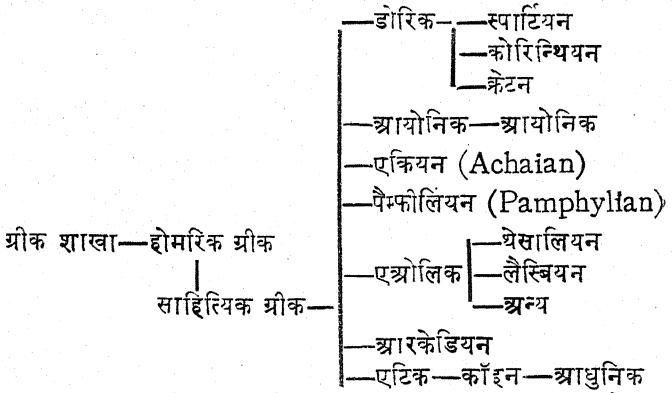

सारिणी सं० —१४

ग्रीक और आधुनिक ग्रीक। साहित्यिक ग्रीक से उद्भूत एटिक भाषा ही आधुनिक ग्रीक के रूप में विकसित हुई है। ग्रीक भाषाओं का विकास उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट हो जायगा।

शतम् वर्ग की भाषाएँ १—बाल्टिक शाखा

शतम् वर्ग की बाल्टिक भाषा व्याकरण तथा शब्दावली की दृष्टि से स्लाव्हिक भाषाओं से पर्याप्त साम्य रखता है। इसीलिए कुछ विद्वान इन दोनों शाखाओं को मिलाकर एक ही शाखा मानते

हैं, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से दो अलग-अलग शाखाएँ बनाना ही अधिक उचित है। बाल्टिक भाषाओं में तीन भाषाएँ आती हैं—प्राचीन प्रशियन, लिथुआनियन और लैटिक। प्राचीन प्रशियन भाषा तो नष्ट हो चुकी है। लिथुआनियन और लैटिक भाषाएँ रूस के पश्चिमी प्रदेशों में बोली जाती हैं। लिथुआनियन भाषा बड़ी आर्य भाषा है। भाषा के विकास की दृष्टि से वह आज भी उस स्थिति में है जिसमें भारतीय आर्यभाषाएँ आज से दो हजार वर्ष पूर्व थीं। लिथुआनियन भाषा में वैदिक संस्कृति तथा ग्रीक में पाया जाने वाला स्वर आज भी वर्तमान है। यह भाषा आज भी संहित अवस्था में है।

२—स्लाव्हिक शाखा

स्लाव्हिक शाखा की भाषाएँ रूस और पूर्वी यूरोप के कुछ देशों में बोली जाती हैं। इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है:—

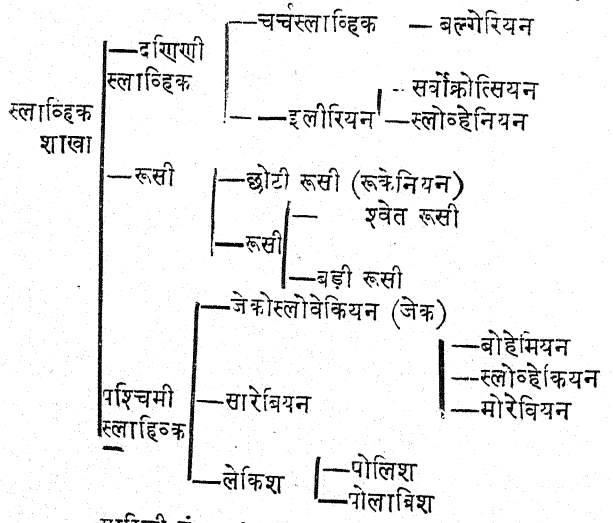

सारिणी सं०—१५

रूसी भाषाओं में बड़ी रूसी साहित्यिक भाषा है। श्वेत रूसी में पश्चिमी रूस की सभी विभाषाएँ और छोटी रूसी में दक्षिणी रूस की सभी विभाषाएँ आजाती हैं। चर्च स्लाव्हिक का प्रचीनतम रूप नवीं शताब्दी का मिलता है। इसको बल्गेरियन भाषा बल्गेरिया में बोली जाती है। यह पूर्णतः व्यवहित भाषा है। इलीरियन से विकसित दोनों भाषाएँ योगोस्लाविया में बोली जाती हैं। ज़ेक भाषाएँ चेकोस्लोवेकिया में बोली जाती हैं। सारेबियन प्रशा के कुछ भागों में बोली जाती है। पोलाविश नष्ट हो चुकी है परन्तु पोलिश एक साहित्यिक भाषा है और पोलैंड में दिन प्रतिदिन उन्नत हो रही है।

३ एल्बेनियन शाखा—

इस भाषा में प्राचीन शिला लेखों को छोड़कर कोई साहित्य नहीं मिलता है। साहित्य भी सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व का अनुपलब्ध है। यह आजकल बाल्कन प्रायद्वीप के पश्चिमोत्तर में बोली जाती है। इसकी एकमात्र शाखा इलीरियन ही अब बच रही है अन्य नष्ट हो चुकी हैं।

४—आर्मीनियन शाखा

यह एशिया से उत्तर और काला सागर के बीच बोली जाने वाली शाखा है। लक्षणों से यह आर्य-ईरानी शाखा और स्लाव्हिक शाखा के मध्य की कड़ी प्रतीत होती है क्योंकि इसमें दोनों के लक्षण मिलते हैं। इस शाखा की फ्रीजियन (Phrygian) भाषा नष्ट हो चुकी है। प्राचीन आर्मीनियन के उपरांत मध्य आर्मीनियन का युग आता है, जो आजकल आरारात और स्तंबुल—दो भाषाओं के रूप में—विकसित हुई है। अरारात इसके एशिया वाले भूभाग में और स्तंबुल यूरोपवाले भाग में (कुस्तुनतुनिया तथा काला सागर के किनारे) बोली जाती हैं।

५—आर्य-ईरानी शाखा

आर्य-ईरानी शाखा भारोपीय परिवार की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखा है। भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टि से यह प्राचीनतम है। इसकी तीन उपशाखाएँ हैं—ईरानी उपशाखा, दरद उपशाखा और भारतीय-आर्य उपशाखा। ईरानी उपशाखा में अवेस्ता और प्राचीन फारसी दोनों भाषाओं का इतिहास आ जाता है। ईरानी भाषाओं के क्रमबद्ध इतिहास का पूर्ण विवरण तो नहीं उपलब्ध है परन्तु उनकी मुख्य उपभाषाओं का ऐतिहासिक विवरण दिया जा सकता है।

(अ) ईरानी भाषाएँ—ईरानी भाषाएँ प्राचीन काल से ईरान और फारस (पारसीक) में बोली जाती रही हैं। ईरानी का प्राचीनतम रूप अवेस्ता नामक ग्रन्थ में मिलता है। इसी समय की ईरानी का एक दूसरा रूप प्राचीन फारस प्रदेश में मिलता है। यह प्राचीन फारसी भी प्राचीनता की दृष्टि से अवेस्ता के ही समकक्ष रखी जा सकती है। प्राचीन फारसी में एकेमेनिअन राजाओं के शिलालेख ईसा पूर्व ५२१ तक के मिलते हैं। प्राचीन फारसी का युग ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी से ईसा की दूसरी शताब्दी तक माना जा सकता है। इसके बाद मध्य फारसी या पहलवी का युग आता है। इसका विकास सेसेनिअन राजाओं (२२६ ई० से ६५१ ई० तक) के समय में अच्छा हुआ था। यह पहलवी भाषा नवीं शताब्दी तक अरबी से प्रभावित होकर आधुनिक फारसी के रूप में विकसित हो गई थी। फिरदौसी की रचनाओं में इसका पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। तबसे आज तक इसी का फारस तथा ईरान में प्रचार है। आजकल इसकी बहुत सी विभाषाएँ कुर्दी, ओसेटिक, आदि विभिन्न प्रांतीय भागों में बोली जाती हैं। परवर्ती अवेस्ता की समकालीन एक भाषा सोग्दियन का और पता लगता है जिसका विकास पश्तो, बलूची, पामीरी आदि भाषाओं के रूप में आजकल दिखाई पड़ता है।

(आ) दरद भाषाएँ

दूसरी मध्यवर्ती शाखा दरद भाषाओं की है। ग्रियर्सन प्रभृति विद्वान इन्हें मिश्र भाषाएँ मानते हैं क्योंकि इनमें ईरानी तथा भारतीय दोनों भाषा-समूहों की विशेषताएँ मिलती हैं। इन्हें ही सम्भवतः प्राचीन वैयाकरण 'पैशाच' की संज्ञा देते थे। ये भाषाएँ आजकल काश्मीर के सीमान्त से पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत तक बोली जाती हैं। इनमें बशगली, चित्राली, शीना, काश्मीरी आदि बोलियाँ प्रमुख हैं।

(इ)—आर्य भाषाएँ

निम्न सारिणी से आर्य-ईरानी शाखा में भारतीय आर्यभाषाओं

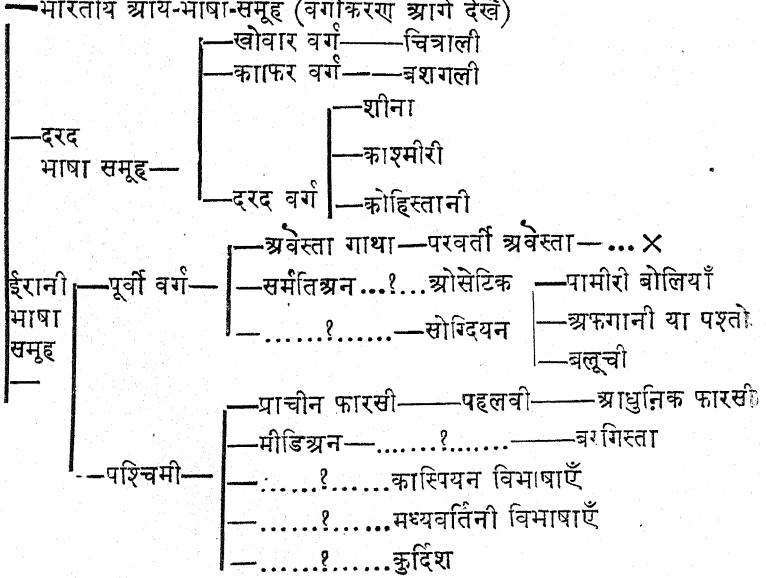

सारिणी सं०—१६

का स्थान विदित हो जाएगा। इनके विकास पर आगे के अध्यायों में पूर्ण विस्तार के साथ विचार किया जायगा।

भारोपीय भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ

भारोपीय भाषाओं का संक्षिप्त परिचय देने के उपरान्त अब इस परिवार की भाषाओं की सामान्य विशेषताओं का भी अध्ययन करना आवश्यक है। भारोपीय भाषाओं की कुछ सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) ये भाषाएँ विभक्ति प्रधान हैं। इनकी विभक्तियाँ प्रायः बहिर्मुखी होती हैं और प्रकृति के अन्त में लगाई जाती हैं।

(२) धातुएं एकाच (एक स्वर और एक या अनेक व्यंजन युक्त) होती हैं और उनमें कृत् तथा तद्धित प्रत्यय लगाने से रूप बनते हैं।

(३) पूर्व-विभक्तियों या परसर्गों का अभाव है। उपसर्ग यद्यपि पूर्व में लगाए जाते हैं और प्रकृति के अर्थ में परिवर्तन करते हैं पर उनका वाक्यान्वय से संबंध नहीं होता है।

(४) इस परिवार की भाषाओं में समास-रचना की विशेष शक्ति है जो अन्य परिवारों में नही मिलती।

(५) 'अक्षरावस्थान' और 'अपश्रुति' इन भाषाओं की विशेषता है। सेमेटिक भाषाओं की स्वरानुरूपता मूलतः वाक्यान्वय से सम्बन्ध रखती है परन्तु अक्षरावस्थान स्वर अथवा बल से उत्पन्न होता है।

(६) इन भाषाओं में सभी प्रकार के व्याकरणिक संबंध विभक्तियों के द्वारा बतलाए जाते हैं, और इसलिए इनमें विभक्तियों का बाहुल्य हो गया है।

(७) इस परिवार की सभी भाषाओं की प्रवृत्ति संहित से व्यवहित की ओर विकसित होने की रही है और आधुनिक भारोपीय भाषाओं में प्रायः सभी व्यवहित भाषाएँ हैं।

तीसरा प्रकरण

भारतीय आर्य भाषाओं का विकास—
(अपभ्रंशयुग तक)
प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा

आर्यों का मूल निवास स्थान

मूल भारोपीय भाषा का प्रारम्भिक विकास कहाँ हुआ और आर्यों का मूल निवास स्थान कहाँ था यह एक विवादास्पद विषय है। १६वीं शताब्दी से आज तक इस सम्बध में विभिन्न मत प्रचलित रहे हैं। मैक्समूलर प्रभृति विद्वानों ने मध्य एशिया को आर्यों का मूल निवास-स्थान माना था। १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लैथम (Latham) ने यह विचार प्रकट किया कि आर्यों का मूल निवास-स्थान 'कहीं न कहीं यूरोप' में ही रहा होगा। तदुपरान्त विद्वानों ने पूर्वीरूस, दक्षिणी रूस, उत्तरी जर्मनी, पोलैंड, लिथुआनिया, स्कैन्डेनेविया तथा हंगरी आदि विभिन्न प्रदेशों को 'विरोस्'[1] का मूल निवास-स्थान सिद्ध करने का प्रयास किया। हाल में ब्रान्देन्स्टाइन (W. Brandenstein) ने 'विरोस्' के मूल निवास-स्थान के विषय

---

१. मूल भारोपीय-हिन्दी के बोलने वाले जन-समुदाय को भाषा शास्त्री* विरोस् (wiros) की संज्ञा देते हैं। मूल भाषा में इसका अर्थ 'मनुष्य' होता है। इसी से संस्कृत 'वीर', लैटिन 'Uir', 'Vir', जर्मन 'Wer' और प्राचीन आयरिश 'Fer', शब्द विकसित हुए हैं।

में विस्तारपूर्वक विचार किया है।[२] उन्होंने भाषागत प्रमाणों के आधार पर भारोपीयों के इतिहास के दो स्तर माने हैं–(१) प्राथमिक काल—जब 'विरोस्' एक साथ रहते थे और अलग-अलग नहीं हुए थे। (२) उत्तरकाल—जब भारत-ईरानी शाखा अपने पितृकुल से अलग हो गई थी। मूल भारोपीय भाषा के शब्दों तथा धातु-रूपों में हुए परवर्ती अर्थ-विकासों का बारीकी के साथ अध्ययन करने पर वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि 'विरोस्' मूलतः किसी अपेक्षाकृत शुष्क तथा गैरिक प्रदेश में रहते थे, जहाँ केवल छोटी-छोटी वनानी थीं। जब वे वहाँ से चले, तो उन्हें निम्न दलदल का प्रदेश मिला, जहाँ बड़े-बड़े वन थे। इन लक्षणों पर विचार करने से यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व में स्थित किरगिज की मैदानी भूमि आर्यों का मूल निवास-स्थान सिद्ध होती है। अभी तक प्रतिपादित मतों में यही मत भाषा शास्त्र एवं पुरातत्व के आधार पर ठोस एवं विश्वसनीय प्रमाणों से युक्त है और इसलिए बहुमान्य तथा स्वीकृत भी है।

आर्यों का प्रसार

यहाँ से 'विरोस्' कालान्तर में दो शाखाओं में चले। एक शाखा पोलैण्ड की ओर से समस्त दक्षिणी यूरोप में पूर्व से पश्चिम तक फैल गई। उनकी दूसरी शाखा एशिया माइनर और मैसोपोटामिया की ओर चली आई। यह घटना सम्भवतः ईसा पूर्व तीन सहस्र वर्ष के लगभग की रही होगी। ये आर्य अपने साथ एक बहुत श्रेष्ठ ऐहिक

---

२. ब्रान्देनताइन ने ये विचार अपने निबन्ध 'Die erste indogermanische wanderung' (1936) में व्यक्त किए हैं। इस निबन्ध का एक संक्षिप्त रूपान्तर A. B. keith ने Indian Historical quarterly, Calcutta 13-1-March 1937 में प्रकाशित कराया है। लेखक ने इसी रूपान्तर का उपयोग किया है।

संस्कृति न लाए थे। परन्तु इनकी भाषा आश्चर्यजनक रूप से सुन्दर और विकसित थी। ये आर्य एशिया माइनर और मैसोपोटामिया में कुछ समय तक घूमते रहे। बाद को कुछ लोग तो यहीं बस गए और कुछ ईरान की ओर चले आए।

हित्ताइट शाखा

जो आर्य एशिया-माइनर में बस गए, उन्होंने ही ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के आसपास हित्ताइट राज्य की स्थापना की। इन्हीं के दस्तावेज़ हूगो विंक्लर ने 'बोगाज-क्योइ' (Boghaz-köi) में खोजे हैं। इनकी भाषा वैदिक भाषा से निश्चय ही प्राचीनतर है। उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—'अइतगम' (सं० 'एतगाम'), 'शिमालिया' (सं० 'हिमालय'), 'तुष्रत्त' (सं० 'दूरथ')। यहाँ 'अइ' संयुक्त स्वर मिलता है, जो वैदिक भाषा में 'ए' हो गया था। इनमें प्राचीन आर्य देवताओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है—"in-da-ra' (सं० 'इन्द्र'), 'mi-it-tara' (सं० 'मित्र'), 'M-ru-wana' (सं० 'वरुण'), 'na-sa-at-at-tyas' ('सं० नासत्य') आदि।

ईरान में आर्यों का प्रवेश

कुछ आर्य लोग जो एशिया-माइनर में न बसे थे, ईरान की ओर चले आए। उनका ईरान में यह प्रवेश लगभग ईसा पूर्व **२५००** वर्ष के लगभग हुआ होगा। यहाँ पर आर्य लोग प्रायः चार पाँच सौ वर्ष तक एक साथ रहते रहे। उनकी भाषा तथा उनकी संस्कृति का पूर्व-वैदिक रूप यहीं पर विकसित तथा पल्लवित हुआ है। इसके बाद कुछ आर्य लोग, सम्भवतः आर्थिक कारणों से और अपनी स्वच्छन्द अटनशील प्रवृत्ति के कारण भी पूर्व की ओर चल पड़े। उन्हें अपनी इस यात्रा में पूर्व की ओर निवास करने वाले 'दास-दस्यु' ('दाह्-दह्य') कहे जाने वाले द्राविड़ों तथा निषादों से युद्ध करना

पड़ा। भारतवर्ष में प्रवेश करने पर उन्हें एक भयंकर संग्राम करना पड़ा, जिसमें अन्ततः आर्य विजयी हुए। आर्यों के ये प्रतिरोधी द्राविड़ लोग एक विकसित सभ्यता तथा संस्कृति के संस्थापक थे। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों से ज्ञात होता है कि इनका सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन बड़ा व्यवस्थित तथा संपन्न था। ये द्राविड़ आधुनिक सिंध और पंजाब में रहते थे। इनके पूर्व की ओर मध्यदेश में उस समय निषाद जातियाँ निवास करती थीं। आर्यों से परास्त होकर ये द्राविड़ पूर्व की ओर भाग गए और सप्तसिन्धु प्रदेश में अधिकार जमाकर आर्य लोग बस गए। यहीं पर उन्होंने अधिकांश वैदिक सूक्तों की रचना की, जिनका कालान्तर में मध्यदेश में सम्पादन हुआ।

अवेस्ता की रचना

अभी अभी यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत में आए हुए आर्यों के पूर्वज ईरान में निवास करते थे। आर्यों के भारत में चले आने के बाद ईरान में बसे हुए आर्यों की भाषा तथा संस्कृति में विकास होता रहा। पन्द्रहवीं शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग ज़रदुश्त्र नामक ईरानी ऋषि ने अवेस्ता गाथाओं की रचना की। इन गाथाओं की भाषा भारत-ईरानी शाखा की एक बोली का साहित्यिक और परिष्कृत रूप थी। आर्य-ईरानी शाखा की एक अन्य विभाषा ने ही विकसित और परिष्कृत होकर कालान्तर में वैदिक ऋचाओं की भाषा का रूप धारण किया था। इन दोनों विभाषाओं में अवेस्ता-गाथाओं की भाषा की मूल-विभाषा वैदिक भाषा की मूल-विभाषा से कुछ अर्वाचीन थी,[1] परन्तु फिर भी दोनों में पर्याप्त साम्य था।

---

१. "The language of the veda, ie, the literary language, is based upon a dialect, that was

गाथाओं के अतिरिक्त अवेस्ता का शेष भाग तो अपेक्षाकृत बाद का है और उसका रचनाकाल ईसा पूर्व आठवीं से ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी तक माना जाता है। अवेस्ता का सम्पादन सासानीय वंश के राजाओं के समय में ईसा की तीसरी शताब्दी में हुआ था, ऐसा विद्वानों का विचार है।

अवेस्ता और प्राचीन वैदिक भाषा की तुलना

अवेस्ता-गाथाओं की भाषा, जिस प्राचीन आर्य ईरानी बोली पर आधारित है; वह ऋग्वेदीय भाषा की आधार भूत बोली से समय की दृष्टि से बाद की सिद्ध होती है परन्तु दोनों का विकास आर्य-ईरानी शाखा की बोलियों से ही होने के कारण ऋग्वेद की भाषा में और अवेस्ता-गाथाओं की भाषा में बड़ा साम्य है। यह साम्य ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों की भाषा में अधिक मिलता है। श्री जैक्सन महोदय का कथन कि "केवल कुछ ध्वनि-परिवर्तनों के आधार पर किसी भी संस्कृत शब्द को अवेस्ता शब्द में बदला जा सकता है"[२] पूर्णतः सत्य प्रतीत होता है। अवेस्ता की भाषा में और प्राचीन वैदिक संस्कृत में ध्वनि-सम्बन्धी पद-रचना-संबंधी तथा व्याकरण-संबंधी—

---

the oldest of the Indo-Iranian branch. That underlying Avesta is comparatively younger." P. D. Gune—An introduction to comparative Philology page—142.

२. "Almost any sanskrit word may be changed at once into its Avestan equivalent, or Vice-versa, merely by applying certain Phonetic laws.' Jackson—Avesta Grammar, Introduction—P. XXI

सभी प्रकार की समानताएँ मिलती हैं। दोनों की कुछ तुलनात्मक विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) मूल भारोपीय 'ए' 'ओ' और इनके ह्रस्व रूप 'ऐ' 'औ' के स्थान पर दोनों भाषाओं में 'अ' या 'आ' का प्रयोग मिलता है। जैसे—

मूल भारोपीय भाषा	अवेस्ता	प्रा० वैदिक भाषा
❀ ékwos	अस्पो	अश्वः
❀ róthos	रथो	रथः
❀ ésti	अस्ति	अस्ति

(२) मूल भारोपीय भाषा का अर्धमात्रिक स्वर 'ə' का दोनों में प्रायः 'इ' हो जाता है—भारोपीय * Pətḗ, अवेस्ता पिता, सं० पिता।

(३) मूल भारोपीय 'र्' और 'ल्' अभेद होकर 'र्' ही प्रायः मिलता है; यथा—मूल भारोपीय weke, अवेस्ता व्हको (Vahrko) सं० वृकः।

(४) मूल भारोपीय 's' आर्य भाषाओं में इ, उ, य्, व्, स और क् वर्णों के पीछे आने पर श् हो जाता है और संस्कृत में उस 'श्' का 'ष्' हो जाता है; जैसे—

मू० भा०	अवं०	वै० सं०
Sthisthanie	histoiti	तिष्ठति
ueqsiō	Vakśaiti	वक्ष्यति

(५) 'अ', 'आ', 'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ', अवेस्ता तथा वैदिक में समान रूप से मिलते हैं।

(६) वैदिक 'अ' के स्थान पर अवेस्ता में कहीं-कहीं 'ऐ' 'औ' भी मिलते हैं; जैसे—सं० यदि, अवेस्ता 'येज़ि'

(७) अवेस्ता में संध्यक्षर अधिक हैं। स्वर-संकोच, स्वर-विस्तार तथा अपनिहित के कारण भी इनकी संख्या बढ़ गई है।

(८) पदान्त में अवेस्ता में केवल दीर्घ 'ओ' ही आता है अन्य दीर्घ स्वर नहीं आते।

(९) संस्कृत 'ए' के स्थान पर अवेस्ता में aē, ōi, ē होते हैं और 'ओ' के स्थान पर aō, ō, əū होते हैं। तीन-तीन संयुक्त स्वर भी अवेस्ता में कभी-कभी आ जाते हैं।

(१०) अवेस्ता में अग्रागम, स्वर भक्ति, युक्त विकर्ष आदि भी मिलते हैं, जैसे—सं० धर्मः, अवे० garəmo।

(११) संस्कृत क्, त्, प्, अवेस्ता में ख्, थ्, फ् हो जाते हैं। संस्कृत घ्, ध्, भ्, अवेस्ता में ग्, द्, ब् हो जाते हैं। संस्कृत स् अवेस्ता में ह् हो जाता है और संस्कृत ज् अवेस्ता में ज़ और कभी-कभी झ् हो जाता है।

(१२) वैदिक संस्कृत में स्वर मिलते हैं। अवेस्ता में स्वर नहीं मिलते, परन्तु उदात्त बल का प्रयोग मिलता है।

(१३) दोनों भाषाओं में तीन वचन, तीन लिंग और आठ विभक्तियाँ होती हैं।

(१४) दोनों भाषाओं में धातुएँ एकाक्षर होती हैं। अवेस्ता में द्वित्व जन्य धातु रूप नहीं मिलते, शेष सभी मिलते हैं। इसी प्रकार कृदन्त, तद्धित और समास आदि भी अवेस्ता में संस्कृत के ही समान मिलते हैं।

प्राचीन वैदिक भाषा ६४

अवेस्ता की भाषा तथा वैदिक संस्कृत के इस तुलनात्मक अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि ईरानियों तथा भारतीय आर्यों के पितामह ईरान में काफी समय तक एक ही समाज के अंग रहे हैं। जब आर्य भारत में आए और सप्तसिन्धु प्रदेश में बसे, तो वे अपने साथ कुछ वैदिक सूक्त और एक यज्ञ-परायण संस्कृति लाए। इन आर्यों में भारत में बस जाने के उपरान्त भी ईरान की

ओर से आर्यों के विभिन्न दल भिन्न भिन्न समय में आते रहे। नवागत आर्यों की बोली भारतीय आर्यों से स्वभावतः कुछ भिन्न थी परन्तु भारतीय आर्यों ने सूक्तों, स्तवों तथा उद्गीथों में प्रयुक्त जिस साधु-भाषा का विकास कर लिया था, वह नवागत आर्यों ने भी अपनाई। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस समय आर्य सप्तसिन्धु में आकर बसे, उस समय पंजाब से फारस तक स्थानीय भेदों को छोड़कर एक सामान्य भाषा साम्य रहा होगा परन्तु वह धीरे-धीरे कम होता गया। इसीलिए वैदिक भाषा का प्राचीनतम रूप अवेस्ता के अधिक समीप है और उसका अपेक्षाकृत अर्वाचीन अंश अधिक भिन्न है। इसी आधार पर प्रो० आँत्वान् मेय्ये (Prof. Antoine Meillet) ने ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा का मूल इसी आर्य-भाषी प्रदेश (पंजाब से ईरान तक फैले हुए प्रदेश) की एक पश्चिमी बोली को ही माना है। इस समय की भाषा में भारोपीय 'र्' और 'ल्' दोनों के लिए 'र्' का प्रयोग होता था और 'घ्', 'भ्', 'ध्', के शब्दों के मध्य में प्रयुक्त होने पर उनके 'ह्' के रूप में निर्बलीकरण का प्राधान्य था, (उदा०—भारोपीय 'yaz'āmadhai', अवेस्ता—'yazāmaide' और वैदिक 'यजामहे')।

परवर्ती वैदिक भाषा

धीरे-धीरे नवागत आर्यों के दबाव से आर्य लोग पूर्व की ओर बढ़े और आधुनिक उत्तर प्रदेश तथा मध्य देश में आकर बसे। यहीं पर ऋग्वेद के परवर्ती सूक्तों की रचना और अन्य वेदों की सृष्टि हुई। यहीं पर वेदों का सम्पादन हुआ और उनके स्वरूप की रक्षा के लिए पाठ-प्रणाली का सूत्रपात हुआ। वेदेतर वैदिक वाङ्मय की रचना का भी यही काल है। यह घटना प्रायः ईसा पूर्व १५०० की है और ब्राह्मण, उपनिषद् ग्रंथों का रचना-काल ईसा पूर्व १२०० से ८०० तक माना गया है। इस समय, अर्थात् जब आर्य मध्यदेश में

आकर बस गए, जिस वैदिक संस्कृत का विकास हुआ, उसमें निम्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं :—

प्राचीन वैदिक तथा परवर्ती वैदिक भाषा की तुलना

(१) प्राचीन वैदिक में प्राप्त विवृति का प्रायः अभाव मिलता है और परवर्ती वैदिक संस्कृत में 'इयं मनीषा' इयम'श्विना गी':, जैसे प्रयोग नहीं मिलते।

(२) पदान्त में वर्तमान 'इय्' 'उव्' के स्थान पर 'य्', 'व्' का प्रयोग मिलता है, यथा प्राचीन 'तुवम्' के स्थान पर 'त्वम्' का प्रयोग।

(३) अभिनिहित-सन्धि, अर्थात् पद के प्रथम 'अ' की पूर्ववर्ती 'ए' अथवा 'ओ' से सन्धि, अधिक मिलती है।

(४) प्राचीन 'र्' तथा 'ल्' के स्थान पर 'ल्' के प्रयोग की प्रवृत्ति पाई जाती है; जैसे प्राचीन रूप 'म्रुच्', 'रभ्', 'रोम', 'रोहित' के स्थान पर अब 'म्लुच्', 'लभ्', 'लोम', 'लोहित' आदि मिलते हैं। यह ल् प्राचीन मण्डलों से परवर्ती मण्डलों में आठ गुना अधिक प्रयुक्त हुआ है।

(५) धातु रूप 'ग्रभ्' के भ् का 'ह्' प्राचीन वैदिक में केवल ऋ के बाद ही मिलता था, यथा 'हस्तग्रह्य' और अन्य स्थितियों में नहीं, यथा 'हस्तग्राभः' परन्तु दसवें मण्डल में प्रयुक्त परवर्ती भाषा में सर्वत्र 'ह्' ही मिलता है, यथा जग्राह, ग्रहाण आदि। इसी प्रकार 'धि' के स्थान पर 'हि' का प्रयोग भी परवर्ती वैदिक भाषा में मिलता है।

(६) प्राचीन वैदिक भाषा में 'कृ' धातु का रूप 'कृणुमः' बनता है परन्तु परवर्ती वैदिक भाषा में कुर्मः। अर्थात् 'नु' के स्थान पर 'उ' ही आता है।

159839

420-H
21

(७) विभक्ति रूपों की दृष्टि से प्राचीन वैदिक के प्रथमा बहुवचन के 'आसस्' और तृतीया बहुवचन के 'एभिः' के स्थान पर परवर्ती भाषा में 'अस्' और 'ऐः' का प्रयोग मिलता है।

(८) प्राचीन शब्दों का प्रयोग कम हो गया जैसे 'ईम्', 'अवस्यु' 'विचर्षणि' 'वीति' आदि, और नए शब्दों का प्रयोग होने लगता है।

परवर्ती ब्राह्मण ग्रंथों की भाषा

परवर्ती वैदिक भाषा की इन विशेषताओं के लिए दो कारण उत्तरदायी थे—(१) भाषा का स्वाभाविक विकास क्रम, और (२) अनार्यों तथा दस्युओं के द्वारा संस्कृत भाषा का प्रयोग और उनके उच्चारणों का प्रभाव एवं उनकी अपनी भाषा का प्रभाव। परवर्ती वैदिक भाषा में विकास का जो क्रम परिलक्षित होता है वह ब्राह्मण-ग्रंथों के युग में भी बना रहा। ब्राह्मण ग्रंथों में भी भाषा के दो स्तर दिखाई पड़ते हैं—(१) प्राचीन ब्राह्मण-ग्रंथों की भाषा ऋग्वेद के परवर्ती अंशों तथा अन्य संहिता ग्रंथों से मिलती जुलती है। (२) परवर्ती ब्राह्मण-ग्रंथों, उपनिषद्-ग्रंथों तथा सूत्र-साहित्य की भाषा लौकिक संस्कृत के अधिक समीप है। प्राचीन ब्राह्मण-ग्रंथों की भाषा में तथा परवर्ती ग्रंथों की भाषा में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर कुछ विद्वानों की दृष्टि में इसलिए है कि दोनों भाषाओं की मूल आधारभूत बोलियों में स्थानीय तथा अन्य विभिन्नताएँ थीं।[1] इस परवर्ती भाषा ने वैदिक रूपों की प्रचुरता को नहीं अपनाया। उसके सोलह तुमुनार्थक प्रत्ययों में से केवल 'तुमुन्' ही शेष रह गया। इसी

१—वाकरनेगेल के अनुसार केवल मूल-बोली भेद ही नहीं वरन् प्राचीन वैदिक भाषा में प्रयुक्त स्वर-प्रणाली भी इसका एक महत्वपूर्ण कारण थी—

—wackernagel—Altindische Grammatik, Vol. I.

(i) Bhandarkar—Wilson's Philological Lectures (Pub. in Bhandarkar Works Vol. IV) PP. 258-260.

प्रकार 'त्वी', 'त्वाम्', 'त्वीनम्', 'त्वानम्' आदि के स्थान पर केवल 'त्वा' ही शेष रह गया। 'मस्' 'ध्वम्' तथा 'त' के साथ-साथ वैदिक भाषा में प्रयुक्त 'मसि, 'ध्व' तथा 'ए' का प्रयोग भी लुप्त हो गया। 'हि' के साथ-साथ प्रयुक्त 'धि' और 'ध्वात्' भी नहीं मिलते। इसी प्रकार अन्य बहुत सी वैदिक भाषा की विशेषताएँ इस परवर्ती ब्राह्मण, उपनिषद् तथा सूत्र साहित्य की गद्यात्मक भाषा में नहीं प्राप्त होती हैं।[२] यह परवर्ती गद्यात्मक भाषा ही कालान्तर में साहित्यिक लौकिक संस्कृत के रूप में विकसित हुई।[३]

वैदिक युग के अन्त में प्रचलित तीन विभाषाए

अभी अभी यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वैदिक सूक्तों की भाषा एक साधु-भाषा (Kunstsprache) थी। अतएव यह भी मानना पड़ेगा कि वैदिक युग में बोलचाल में प्रयुक्त होने वाली विभाषाओं तथा बोलियों में और इस भाषा में कुछ अन्तर अवश्य रहा होगा। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि बोलचाल की विभाषाएँ स्थानीय भेदों तथा विशेषताओं के साथ निरन्तर विकसित होती रही होंगी। उत्तर भारत में आर्यों के प्रसार के तीन स्तर मिलते हैं—

२—विशेष विवरण के लिए देखिए—

(ii) P. D. Gune—An Introduction to comparative Philology PP. 145—146.

(iii) Wackernagel—Altindische Grammatic—Vol. I. —PP.—XXX to XXXVII.

3. "The classical Sanskrit is therefore as we have seen, the literary development of the oldest vedic prose. In other words, it is the canonized form of the literary vedic which is based upon an Indo-Iranian dialect." P. D. Gune—An Introduction to Com. Philology PP. 147-148.

(१) जब आर्य सप्तसिन्धु में बसे, (२) जब आर्य मध्यदेश में फैले और (३) जब आर्य अपने धर्म तथा संस्कृति के प्रचारार्थ मध्यदेश के पूर्व में भी गए। इसके साथ ही अनार्य तत्वों के प्रभाव के भी तीन स्तर माने जा सकते हैं—(१) जब अनार्य प्रभाव बहुत कम था; उस समय आर्य सप्तसिन्धु में रहते थे। (२) जब अनार्य प्रभाव बढ़ा और मध्यदेशीय आर्यों की बोली में पर्याप्त अनार्य-मिश्रण हुआ और (३) जब अनार्य तत्वों को आर्य संस्कृति तथा भाषा में आत्मसात् किया गया। इन तीन स्तरों के ही अनुकूल वैदिक युग के समाप्त होते न होते बोलचाल में प्रयुक्त विभाषाओं के भी तीन रूप मिलते हैं—(१) उदीच्य—यह बोली अत्यन्त विशुद्ध मानी जाती थी। इसका रूप आर्य और रूढ़ था। कौषीतकि ब्राह्मण में उल्लेख है कि "तस्माद् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग् उच्यते; उदञ्च उ एव यन्ति वाचम् शिक्षितम्, यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति।"[1]

(२) मध्य देशीय—यह विभाषा गंगा यमुना के दोआबे में बोली जाती थी। इसमें कुछ अनार्य तत्वों का मिश्रण हो गया था परन्तु फिर भी यह परवर्ती वैदिक गद्य के अधिक समीप थी।

(३) प्राच्य—यह पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार तथा अन्य पूर्वी भागों की विभाषा थी। यह 'व्रात्यों' के द्वारा भी बोली जाती थी जो वैदिक यज्ञ-प्रणाली के विरोधी थे और आर्यों के द्वारा 'आसुर्य' कहे जाते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थ में एक स्थान पर कहा गया है कि 'ये उच्चारण में सरल वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बताते हैं और वैदिक धर्म में दीक्षित न होते हुए भी दीक्षितों की भाषा बोलते हैं।" "अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तम् आहुः, अदीक्षिताः दीक्षितवाचम् वदन्ति।"[2]

१—कौषीतकि ब्राह्मण ७। ६

२ तांडय ब्राह्मण १७। ४

लौकिक संस्कृत का विकास

इन तीन विभाषाओं में से प्रथम से ही लौकिक संस्कृत का विकास माना जाता है। वैदिक युग में उदीच्य देश में बोली जाने वाली भाषा में कार्य करने वाली सारल्य की प्रवृत्ति ने ही इस नई-संस्कृत भाषा को जन्म दिया। वैदिक सूक्तों की भाषा और लौकिक संस्कृत के बीच परवर्ती ब्राह्मण ग्रंथों की गद्यात्मक विभाषा की कड़ी जोड़ लेने से यह विकास क्रम पूर्ण हो जाता है। यह लौकिक-संस्कृत छन्दस भाषा का एक अपेक्षाकृत नवीन रूप अथवा मध्य-देशीय तथा प्राच्य विभाषाओं के उपादानों से युक्त उदीच्य भाषा का एक साहित्यिक रूप थी। कालान्तर में यह ब्राह्मण लोगों में परस्पर व्यवहार तथा शिक्षण की शिष्ट भाषा बन गई थी। यही भाषा वेदों के भाष्य-टीका तथा धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचन में प्रयुक्त होती थी। भाषा का यह रूप अनुमानतः आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व तक विकसित हो चुका था। इसी भाषा का व्याकरण कुछ समय बाद महर्षि पाणिनि के द्वारा लिखा गया था। पाणिनि पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहने वाले शालातुरीय विद्वान थे और उनका परिचय उदीच्य विभाषा से तथा साहित्यिक संस्कृत से भली-भाँति था। उन्होंने अपनी व्याकरण का आधार इसी उपर्युक्त उदीच्य भाषा को बनाया परन्तु उन्होंने मध्यदेशीय भाषा की विशेषताओं को भी अपना लिया था। उनके समय तक संस्कृत में प्रान्तीय भेदों का विकास हो चुका था, जैसा कि पाणिनि के सूत्रों से ही ज्ञात होता है। साथ ही पाणिनि के समय में इस भाषा का बोल-चाल में भी प्रयोग होता था जैसा कि उनके बहुत से सूत्रों से स्पष्ट है। इसी साक्ष्य के आधार पर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वेबर, ह्वार्नले, ग्रियर्सन आदि विद्वानों का यह विचार, कि संस्कृत बोल-चाल की भाषा कभी भी न थी और यह केवल उच्चवर्गीय लोगों के द्वारा

व्यवहृत एक कृत्रिम रूप से निर्मित भाषा थी, सर्वथा असत्य है। इस मत का पूर्णतः खण्डन भी किया जा चुका है।[१] भाण्डारकर तथा गुणे आदि विद्वानों ने पाणिनि तथा कात्यायन आदि के अन्तर्साक्ष्य के आधार पर यह भलीभाँति सिद्ध कर दिया है कि संस्कृत उस समय बोल-चाल में प्रयुक्त होती थी। संस्कृत के प्रांतीय भेदों का उल्लेख भी इन लोगों के द्वारा किया गया है। केवल पाणिनि ने ही नहीं, इससे पूर्व यास्क ने भी 'दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु'[२] आदि उदाहरणों में इस प्रांतीय भिन्नता की ओर ध्यान दिया था। पाणिनि ने तो संस्कृत को भाषा कहा भी है जब कि उन्होंने वैदिक संस्कृत को 'छन्दस' कहा है। पाणिनि के 'नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य,'[३] 'एकश्रुति-दूरात्संबुद्धौ',[४] 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः'[५] 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे'[६] तथा 'दूराद्धूते च'[७] आदि सूत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय संस्कृत का प्रयोग दैनिक व्यवहार में होता था। पाणिनि के उपरान्त पतञ्जलि ने भी संस्कृत को 'लौकिक' भाषा कहा है अर्थात् वह भाषा, जो सामान्य लोगों के द्वारा व्यवहृत हो। अतएव यह प्रकट है कि संस्कृत परवर्ती ब्राह्मण-ग्रंथों की भाषा के विकास-क्रम में विकसित

१—देखिये—(i) R. G. Bhandarkar—Wilson's Philological Lectures P. 147-148 (ii) P. D. Gune—An Introduction to Com. Philology—Lecture VII.

२—यास्क—निरुक्त २।२

३—पाणिनि—अष्टाध्यायी ८।४।४८

४—पाणिनि—अष्टाध्यायी १।२।३३

५—पाणिनि—अष्टाध्यायी ८।२।८२

६—पाणिनि—अष्टाध्यायी ८।२।८३

७—पाणिनि—अष्टाध्यायी ८।२।८४

तथा एक ऐसी 'संस्कृता वाक्' थी जिसका पाणिनि आदि के युग में दैनिक जीवन में व्यवहार होता था और जो पतञ्जलि के समय तक बोल-चाल में व्यवहृत होती रही यद्यपि यह सत्य है कि उसमें प्रांतीय भेदों का विकास पाणिनि के समय तक होने लगा था और पतञ्जलि के समय तक तो यह विभिन्नता पर्याप्त स्पष्ट हो गई थी।

लौकिक संस्कृत का विकास—पाणिनि से पतञ्जलि तक

पाणिनि ने संस्कृत भाषा का व्याकरण लिखा, एक ऐसा पूर्ण और वैज्ञानिक व्याकरण, जैसा आज तक किसी भाषा में नहीं लिखा गया! संस्कृत ऐसे उत्कृष्ट वैय्याकरण को पाकर धन्य हो गई। पाणिनि का समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। उन्होंने 'उदीच्य' भाषा पर आधारित संस्कृत का व्याकरण लिखा। शब्दानुशासन से संस्कृत का स्वरूप स्थिर किया और वह धीरे-धीरे बोल-चाल में क्रमशः न्यूनातिन्यून प्रयुक्त होने लगी। परन्तु उसका प्रयोग एकाएक नहीं रुक गया। कात्यायन के वार्तिक तथा पतञ्जलि के महाभाष्य के समय तक उसका उपयोग होता रहा है। वार्तिक तः विशेषतः इसीलिए बने कि पाणिनि के समय से कात्यायन के समय तक भाषा के रूप में जो विकास हो गया था, उसे पुनः व्याकरण के नियमों से बाँधा जाय। पतञ्जलि के समय तक आते-आते भाषा का व्यवहार बोलचाल के क्षेत्र से बाहर हो गया और संस्कृत भाषा शिष्ट तथा विद्वान लोगों की भाषा रह गई, जिसमें काव्य ग्रन्थ लिखे जाते थे, दार्शनिक विवेचन होता था और धार्मिक कृत्य किए जाते थे। बोलचाल की भाषा ने विकसित होकर भिन्न रूप धारण कर लिया।

प्राचीनतम वैदिक युग से पतञ्जलि युग तक भाषा विकास के पांच स्तर

आर्यों के भारतवर्ष में आगमन के समय से पतंजलि के समय तक भाषा विकास के पाँच स्तर प्राप्त होते हैं :—

१. ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों की भाषा, जो अवेस्ता से बहुत मिलती जुलती है और जिसमें 'ल्' का प्रयोग नहीं होता था।

२. ऋग्वेद के दसवें मण्डल तथा प्रारम्भिक ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा जिसमें 'ल्' का प्रयोग होने लगा था और जिस भाषा का स्वरूप अधिक सरल और व्यवस्थित हो गया था।

३. परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा। इसी भाषा में महाभारत तथा रामायण के मूल रूप लिखे गए। यह भाषा लौकिक संस्कृत के बहुत समीप थी और विकास क्रम से सं० २ और पाणिनि के समय की भाषा के बीच की कड़ी थी। वास्तव में इसमें और पाणिनीय भाषा में इतना अन्तर था कि यह भाषा का मूलतः मध्यदेशीय रूप था और पाणिनि के शब्दानुशासन की भाषा का आधार मूलतः उदीच्य रूप था।

४. पाणिनि के समय की संस्कृत भाषा। इसी समय से संस्कृत का बोलचाल में प्रयोग कम हो गया था और वह अधिक साहित्यिक होने लगी थी।

५. कात्यायन और पतञ्जलि के युग की भाषा। इस समय तक संस्कृत विद्वानों, तथा ब्राह्मणों की भाषा बन गई थी और बोलचाल में प्राकृतों का प्रयोग होने लगा था इतना ही नहीं प्राकृतों में भी प्रांतीय लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे।

मध्यभारतीय आर्य भाषा (मभाआ)[1]

भगवान बुद्ध के समय की भाषागत स्थिति

भगवान् बुद्ध के जन्म तक भारतीय आर्यभाषा विकास के मध्यकाल में प्रवेश कर चुकी थी। उनके आविर्भाव के समय में समस्त उत्तरा-

---

१ मध्य भारतीय आर्यभाषाओं को भाषाशास्त्री संक्षेप में 'मभाआ' ही कहते हैं।

पथ में आर्यभाषाओं का बोलचाल में प्रयोग होता था और आर्य-भाषा का स्वरूप अविकृत एवं अक्षुण्ण न रह गया था। अनार्य लोगों के द्वारा निरन्तर व्यवहृत होने के कारण उसके स्वरूप में बहुत से उल्लेखनीय परिवर्तन आ गए थे। उस समय उत्तर भारत में आर्यभाषा की भाषागत स्थिति इस प्रकार थी :—

(१)—छान्दस् भाषा—यह प्राचीनतम वैदिक भाषा का साहित्यिक रूप था। ब्राह्मण लोग पाठशालाओं में इसका अध्ययन अध्यापन करते थे।

(२) संस्कृत भाषा—वैदिक भाषा के विकास के तीसरे स्तर अर्थात् परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों तथा अन्य वैदिक साहित्य के आधार पर विकसित उदीच्य विभाषा का एक रूप जिसमें मध्यदेशीय उपादान भी अन्तर्भुक्त थे।

(३) तीन प्रादेशिक बोलियाँ—उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य। इनका बोलचाल में उपयोग होता था। उदीच्य तो संस्कृत के बहुत समीप थी परन्तु प्राच्य बराबर दूर होती जा रही थी और अनार्य तत्वों से विशेष प्रभावित हो रही थी।

प्राकृत भाषा का उदय

(१) ध्वनि परिवर्तन

प्राच्य बोली का विकास आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश से लेकर बंगाल के क्षेत्र में हो रहा था। यहाँ के निवासी अनार्यों से अधिक प्रभावित हो गए थे और उनकी बोली पर भी अनार्य प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ गया था। अनार्य प्रभाव के कारण इस बोली में 'र्' की जगह 'ल्' का प्रयोग होने लगा था। इस बोली में 'र्' तथा 'ऋ' के बाद आने वाले दन्त्य का मूर्धन्य हो जाता था और 'कृत', 'अर्थ', 'अर्घ' आदि शब्दों का रूप 'कट', 'अट्ठ' और 'अड्ढ' हो गया था। इस बोली में ऋ, ऌ ध्वनियाँ लुप्त हो गई थीं और ऐ, औ के स्थान पर 'ए' 'ओ' का प्रयोग होने लगा था। 'अय्' 'अव' के

स्थान पर भी 'ए', 'ओ' का प्रयोग होने लगा था। 'श्' 'ष्' 'स्' इन तीनों ऊष्म ध्वनियों का स्थान एक ही ऊष्म ध्वनि ने ले लिया था (मगध की भाषा में यह 'श्' के रूप में तथा अन्य में 'स' के रूप में मिलती है। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन संयुक्त-व्यंजना ध्वनियों के क्रमशः समीकरण का था। 'क्त्' 'त्क्' 'प्त्' 'क्ष्' आदि के स्थान पर 'त्त्' 'क्क्' 'त्त' और 'क्क्' का प्रयोग होने लगा था। इसी प्रकार ऊष्मों तथा अर्धस्वरों से संयुक्त व्यंजनों में भी परिवर्तन हो गया था, जैसे—स्प् > प्फ्, स्न् > न्न्, त्स् > च्छ्, क्व् > क्क् और त्य् > च्च् आदि। संस्कृत भद्र और क्षुद्र जैसे शब्द भी समीकरण के द्वारा मल्ल, खुल्ल > खुल्ल हो गए।

(२) व्याकरणिक परिवर्तन

इस समय तक बोलियों के व्याकरणिक ढाँचे में भी परिवर्तन आ गया। द्विवचन का लोप हो गया। अजन्त और हलन्त प्रातिपदिकों के रूप अकारान्त की भाँति ही निष्पन्न होने लगे। सर्वनामों के विशेष प्रकार के रूपों का संज्ञा शब्दों में विधान होने लगा; यथा 'तस्मिन् गृहे' का 'तस्मिन् घरस्मिन्' धातुओं के कालों तथा भावों की संख्या भी कम हो गई। 'सम्पन्न' (Perfect) का लोप हो गया और सामान्य (Aorist) और असम्पन्न (Imperfect) भूतकाल में अन्तर्भुक्त हो गए। अभिप्राय (Subjunctive) का लोप हो गया। 'सन्नन्त' धातु-रूप आदि का प्रयोग समाप्त हो गया और प्राचीन दस गणों की धातुएँ एक ही गण में प्रयुक्त होने लगीं। ये परिवर्तन प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के क्षेत्र की सभी बोलियों में होने लगे थे। प्राच्य बोली में ये लक्षण सर्वप्रथम और सर्वाधिक परिलक्षित हुए। मध्यदेशीय बोली पर भी इनका प्रभाव पड़ रहा था परन्तु उच्चारणों में तथा व्याकरण में उतनी शिथिलता न आई थी। उदीच्य बोली इनसे बहुत कम प्रभावित हुई थी और इसी क्षेत्र में

पतञ्जलि के समय तक (ईसा पूर्व पहली शताब्दी तक) बोलचाल में संस्कृत या उससे मिलती जुलती बोली प्रयुक्त होती रही। भाषा के क्षेत्र में नए युग का विकास प्रधानतः प्राच्य बोली के परिवर्तनों से ही प्रारम्भ हुआ और मध्य भारतीय आर्य-भाषाओं का उदय हुआ। मध्य भारतीय आर्यभाषाओं में पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश आती हैं। इनके विकास को निम्न युगों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) प्रथम युग—इस युग में भी विकास के दो स्तर दिखाई पड़ते हैं :—(अ) ईसा पूर्व ६०० से ईसा पूर्व २०० वर्ष तक—पालि का उदय और विकास तथा अशोक कालीन प्राकृतों का युग। (आ) ईसा पूर्व २०० से २०० ईसवी तक—अश्वघोष-कालीन प्राकृतों तथा निय-प्राकृत का युग। यह संक्रान्ति काल कहा जा सकता है।

(२) द्वितीय युग—२०० ई० से ६०० ई० तक—साहित्यिक प्राकृतों का विकास।

(३) तृतीय युग—६०० ई० से ११०० ई० तक—अपभ्रंश भाषाओं का विकास। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ

प्रथम युग—पालि भाषा और साहित्य ६१

मभाआ के प्रारम्भिक काल की सामग्री हमें पालि साहित्य तथा अशोककालीन अभिलेखों से प्राप्त होती है। पालि में बौद्ध धर्म के थेरवाद का साहित्य लिखा गया है। थेरवादी 'तिपिटक' (त्रिपिटक) तथा उस पर लिखी गई 'अट्ठकथा' के अतिरिक्त 'मिलिन्दपञ्हो', 'विसुद्धिमग्ग', 'दीपवंस' आदि की रचना भी पालि में ही हुई है। वास्तव में पालि शब्द का मूल प्रयोग बुद्ध-वचनों के लिए होता था जैसा 'इमामि ताव पालियं, अट्ठकथायंपन' (ये तो पालि में हैं परन्तु अर्थकथा में नहीं हैं) और 'नेवं पालियं न अट्ठकथायं आगतं' (ये न

तो पालि में आए हैं और न अट्ठकथा में ही हैं) आदि उदाहरणों से स्पष्ट है। कुछ समय बाद थेरवादी साहित्य की भाषा को भी लोग संबंध नियम (Law of association) के अनुसार पालि भाषा कहने लगे।

पालि शब्द की व्युत्पत्ति

पालि भाषा के स्वरूप तथा उसके मूल प्रदेश के विषय में विचार करने के पूर्व पालि शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार कर लेना आवश्यक है। पालि शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। यद्यपि स्थानाभाव के कारण सब पर विचार कर पाना सम्भव नहीं है परन्तु मुख्य-मुख्य मतों का उल्लेख नीचे किया जाता है :—

(१) पं० विधुशेखर भट्टाचार्य पालि शब्द का विकास संस्कृत शब्द 'पङ्क्ति' से मानते हैं। उनके अनुसार इस शब्द का विकास इस प्रकार हुआ है—पङ्क्ति > पन्ति > पत्ति > पट्ठि > पल्लि > पालि। इस मत का समर्थन बहुतेरे पाश्चात्य विद्वानों ने भी किया है। स्वयं पालि के एक प्रमुख ग्रन्थ अभिधानप्पदीपिका के 'तन्ति बुद्ध वचनं पन्ति पालि' प्रयोग से भी 'पालि' का पंक्ति ही अर्थ निकलता है। परन्तु ध्वनि परिवर्तन के विचार से प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से मध्य भारतीय आर्यभाषा तक उपर्युक्त ध्वनि विकास असाधारण प्रतीत होता है।

(२) कुछ लोगों के विचार से 'पल्लि' (अर्थ-गाँव) से इस शब्द की उत्पत्ति हुई। परन्तु इस मत में भी ध्वनि परिवर्तन संबंधी असाधारणता है क्योंकि ल् व्यंजन का लोप और उसके पूर्व स्वर का दीर्घ हो जाना यह मभाआ के बहुत अनुकूल नहीं है। साथ ही अन्तिम स्वर का ह्रस्व होना भी प्रारम्भिक मभाआ के अनुरूप नहीं है। साथ ही 'पालि' गाँवों में ही सीमित न थी वरन् वह एक श्रेष्ठ धार्मिक साहित्य की भाषा थी।

(३) मैक्स वालेसर का मत है कि पालि शब्द पाटलिपुत्र से निकला, पाटलिपुत्र> पालिब्रोक> पालि। इसमें ध्वनि संबंधी स्पष्ट कठिनाइयाँ हैं—'पाटलि' का मभाआ में 'पाउलि' बनेगा। 'ड' का सहसा लोप समझ में नहीं आता फिर 'ब्रोक' का लोप भी तर्क सम्मत नहीं है।

(४) राजवाड़े के अनुसार प्रकट> पाउड> पाअल> पाल> पालि ही पालि का निर्वचन है।

(५) भिक्खु जगदीश कस्सप ने पालि शब्द की व्युत्पत्ति सं० पर्याय शब्द से की है। उनके अनुसार व्युत्पत्ति क्रम इस प्रकार है – पर्याय> परिमाय> पलियाय> पालियाय> पालि। इसमें भी ध्वनि परिवर्तन की असाधारण स्थिति की कल्पना करनी पड़ती है।

(६) इन सबसे अधिक युक्ति सम्मत तो यह विचार है कि पालि की व्युत्पत्ति 'पा' धातु और णिच् प्रत्यय (लि) के योग से हुई है। प्राचीन लेखकों ने भी पालि की व्युत्पत्ति 'अत्थानपाति, रक्खतीति, तस्मात् पालि' के ही रूप में की है। इससे प्रकट होता है कि बुद्ध-वचनों की रक्षा, उनका संकलन और लेखन जिस भाषा में किया गया वही पालि है। यह मत पर्याप्त विश्वसनीय प्रतीत होता है।

पालि भाषा किस प्रदेश की भाषा थी ?

पालि शब्द की व्युत्पत्ति के बाद प्रश्न यह है कि पालि किस प्रदेश की भाषा थी। लंका के बौद्धों का विचार रहा है कि पालि में बुद्ध वचन कहे गए थे और पालि मगध देश की भाषा थी। परन्तु मागधी और पालि में कुछ ऐसे मौलिक अन्तर हैं जिससे यह मानना उचित नहीं प्रतीत होता। अशोककालीन मगध प्रदेशीय अभिलेखों की भाषा में तीनों ऊष्म ध्वनियाँ श, स, ष केवल (श) के रूप में रह गई थीं परन्तु पालि में इन तीनों के लिए 'स' मिलता है। मागधी में केवल 'ल' है, परन्तु पालि में 'ल' 'र' दोनों हैं। पुलिंग तथा

नपुंसकलिंग कर्ताकारक एकवचन में, अकारान्त शब्दों में, मागधी में 'ए' विभक्ति लगती है, परन्तु पालि में 'ओ' इसी प्रकार की कुछ अन्य ऐसी भिन्नताएँ हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि मागधी तथा पालि अलग-अलग प्रदेश की भाषाएँ होनी चाहिए। अब प्रश्न यह है कि यदि पालि मगध की भाषा नहीं है तो कहाँ की है। इस सम्बध में भी विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डा० ओल्डनबर्ग ने पालि भाषा के खारवेल के खण्डगिरि अभिलेख से पर्याप्त समता रखने के कारण यह विचार व्यक्त किया है कि कलिङ्ग की विभाषा ही पालि की आधार रही है। वेस्टरगार्ड तथा कुह्न ने पालि को उज्जैन प्रदेश की बोली पर आधारित माना है। उनके मतानुसार सिंहल में पालि भाषा-साहित्य को ले जाने वाले राजकुमार 'महिन्द' (महेन्द्र) का बाल्यकाल उज्जैन में बीता था और उन्होंने अपनी मातृभाषा में ही धर्मप्रचार किया होगा अतएव उज्जैन की बोली ही पालि की आधार रही है। डा० फ्रैंक ने पालि को विन्ध्यप्रदेश की बोली पर आधारित माना है। उन्होंने उत्तर भारत की समस्त जनभाषाओं से इसकी तुलना करके यह मत स्थापित किया है। ग्रियर्सन ने पालि में मागधी तथा पैशाची के लक्षण प्राप्त करके यह विचार व्यक्त किया है कि पालि मूलतः मगध की जनभाषा थी जो बाद को उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त में तक्षशिला की ओर ले जायी गई। परन्तु तक्षशिला तो महायान का केन्द्र था अतएव वहाँ हीनयानी भाषा का प्रचार होने की सम्भावनाएँ काफी नहीं हैं। विंडिश तथा जाइगर ने पालि को एक साहित्यिक भाषा मात्र ही माना है जो सभी विभाषा भाषी प्रदेशों में समझी जाती थी और जिसमें सभी के लक्षण थोड़े बहुत कालान्तर में आ गए थे। रीज़ डेविडस् महोदय ने इसे कोशल-प्रदेश की भाषा माना है। स्वयं भगवान् बुद्ध ने अपने आप को 'कोसल-खत्तिय' (कोशल-क्षत्रिय) कहा भी है अतएव उनकी भाषा कोशल की भाषा से विकसित हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। वे इस प्रकार मागधी को ही पालि का

मूल मानते हैं। आधुनिक खोजों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि त्रिपिटक का संग्रह पालि के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में ही हुआ रहा होगा। एक तिब्बती परम्परा के अनुसार 'मूल सर्वास्तिवाद' के संस्कृत में, 'महासांघिक' के प्राकृत में, 'महासम्मतिय' के अपभ्रंश में और 'स्थविर' सम्प्रदाय के ग्रंथ पैशाची में थे। स्वयं भगवान् बुद्ध ने कहा भी था 'अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्ध वचनं परियापुणितुं।' अतएव पालि-त्रिपिटक ही मूल बुद्ध वचन हैं यह सन्देहास्पद है। अशोक के भाब्रू अभिलेख से ज्ञात होता है कि अशोक ने त्रिपिटक का संकलन 'प्राच्या' से कराया था।[1] पालि त्रिपिटक में जो विभिन्न भाषाओं के लक्षण मिलते हैं ये अनुवादकों की कृपा से तथा उस समय त्रिपिटक के प्रचार के कारण भी हो सकते हैं। चीनी, तिब्बती अनुवादों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि मूल बुद्धवचन 'मागधी बोली' में ही रहे होंगे परन्तु उनके निर्माण के उपरान्त जब उनके वचनों के संकलन के लिए सभा हुई तो उसमें महाकस्सप, जो शूरसेन प्रदेश के रहने वाले थे, प्रमुख संकलनकर्त्ता रहे और उन्होंने मध्यदेशीय बोली में त्रिपिटक का संग्रह किया। यही त्रिपिटक राजकुमार महेन्द्र ने पढ़ा और अपने साथ सिंहल ले गए। इस प्रकार मध्यदेशीय भाषा ही पालि का आधार है। मागधी से अनुदित होने के कारण इसमें उसके रूप रह गए और पैशाची का भी इसी प्रकार प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि पालि का साम्य प्राचीन शौरसेनी से सर्वाधिक है। यही मध्यदेशीया भाषा कालान्तर में कलिङ्ग में प्रचलित हुई और इसीलिए खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख से पालि भाषा में कुछ समानताएँ देखी जा सकती हैं।

---

१ "उपतिस्पसिने लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्च विनय समुकसे।"
भाब्रू अभिलेख

पालि भाषा की विशेषताएँ

पालि भाषा की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) सन्ध्यक्षर 'ऐ' और 'औ' का स्थान पालि में 'ए' और 'ओ' ने ले लिया। उ० सौत्र - सोत्र

(२) संयुक्त व्यंजनों से पूर्व आए 'ए' 'ऐ' 'ओ' 'औ' का ऐ, ओ हो गया और ह्रस्व ऐ ओ तथा दीर्घ 'ए' 'ओ' का विकास हुआ।

(३) पद में आने वाले स्वर क्रम 'अ—अ—अ' के स्थान पर 'अ—इ—अ' हो गया; यथा चरम>चरिम, चन्द्रमाः>चन्दिमा आदि।

(४) संयुक्त व्यंजन से पूर्व प्रयुक्त ह्रस्व का दीर्घ हो गया तथा उस संयुक्त व्यंजन का समीकरण हो गया; जैसे, सर्षप > सासप, विंशति>वीसति। तुम्हे — तुम्हें

(५) संयुक्त व्यंजन रूप स्म, श्म, ष्म के स्थान पर 'म्ह' हो गया।

(६) दो स्वरों के मध्यवर्ती 'ड्' 'ढ्' (और कभी-कभी 'ल्') के स्थान पर 'ळ्' (कभी-कभी 'ळ्ह') हो गया। जैसे :— आपीडा > अवेळ्हा।

(७) 'ऋ' 'ऌ' और विसर्ग का लोप हो गया।

(८) पालि में स्वतंत्र अनुनासिक स्वर का विकास हुआ जो 'निग्गहीत स्वर' कहलाता है।

(९) सघोष व्यंजनों का कभी-कभी अघोष के रूप में और अल्प-प्राणों का महाप्राणों के रूप विकास हुआ; जैसे छगल>चकल; कुब्जा>खुज्जा आदि।

(१०) संस्कृत की श, ष्, स्, के स्थान पर पालि में केवल 'स्' बचा। जैसे-शकुन सकुण / कोश - कोस

(११) पदान्त व्यंजनों का लोप हो गया।

(१२) 'म्' का सर्वत्र अनुस्वार ही हो गया।

(१३) पदारम्भ में केवल संयुक्त व्यंजनों का ही प्रयोग होने लगा; जैसे क्षेत्र>खेत्त।

(१४) पालि में असंयुक्त के पूर्व ही दीर्घ स्वर आता है अतएव संयुक्त के पूर्व आए दीर्घ ह्रस्व हो गए; जैसे मार्ग>मग्ग; कार्य>कज्ज।

(१५) कहीं कहीं संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के स्थान पर स्वरभक्ति भी पालि में मिलती है; जैसे पद्म> पदुम, स्नेह> सिनेह।

(१६) 'ल' के स्थान पर 'उ' मिलता है।

(१७) स्वराघात पर बलाघात का विकास हुआ।

(१८) अक्षर विपर्यय भी पालि में मिलता है। इसी प्रकार सम्प्रसारण तथा अक्षर-संकोच भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

(१९) पालि ने प्राचीन वैदिक विभक्ति रूप—पुंलिंग के प्रथमा बहुवचन के 'आसस्' जैसे रूपों को सुरक्षित रखा है।

(२०) पालि में बहुतेरे ऐसे आर्ष शब्द मिले हैं, जो सीधे वैदिक भाषा से आए हैं। इसमें इस मत की पुष्टि होती है कि जिस समय संस्कृत का प्रयोग होता था उस समय बोलचाल की भाषा तथा शिष्ट भाषा संस्कृत में अन्तर भी था।

अशोक के अभिलेखों की भाषा

प्राकृत भाषाओं के प्रथम युग की दूसरी महत्वपूर्ण सामग्री अशोक के अभिलेखों की भाषा सुरक्षित है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न भागों में धर्म तथा शासन-संबंधी अपनी महत्वपूर्ण घोषणाएँ शिलालेखों, स्तम्भों, गुफा-भित्तियों आदि में खुदवाई थीं। ये अभिलेख उसी प्रदेश की बोलचाल की भाषा में उत्कीर्ण करवाए गए थे जिससे साधारण जनता उन्हें समझ सके। इतिहास के अतिरिक्त भाषा के विकास के लिए भी इनका बड़ा महत्व है क्योंकि इनमें उस युग के विभिन्न प्रदेशों की बोलियों के

स्वरूप सुरक्षित हैं। ये अभिलेख तीन श्रेणियों में रखे जा सकते हैं—

अशोक के अभिलेख

(१) पहली कोटि में ६ शिलालेख आते हैं। इनमें उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रांत में शहबाजगढ़ी में तथा पंजाब के हजारा जिले के मानसेरा में प्राप्त शिलालेख खरोष्ट्री लिपि में हैं। शेषचार गिरिनार (गुजरात) में, कालसी (देहरादून जिले में) में, धौली (कलिङ्ग में) और जौगड (उड़ीसा में) पाए गए हैं। ये चारों ब्राह्मीलिपि में हैं। इनमें धर्म तथा शासन विषयक घोषणाएँ उत्कीर्ण हैं।

(२) दूसरी कोटि में नौ लघु-शिलालेख हैं। ये सिद्धपुर, जतिंग, रामेश्वर और ब्रह्मगिरि में (तीनों मैसूर राज्य में) सहसराम (शाहाबाद जिला) में, रूपनाथ (जबलपुर जिला) में, वैराट (जयपुर राज्य) में, मास्की (हैदराबाद राज्य) में, मद्रास राज्य में और वैराट (जयपुर राज्य) में मिले हैं। इनसे अशोक की जीवनी पर प्रकाश मिलता है।

(३) तीसरी कोटि में आठ स्तम्भ-लेख, गुहा लेख तथा अन्य सभी अभिलेख आ जाते हैं।

अशोककालीन जन भाषाओं के विभेद

अशोक के इन शिलालेखों में भाषा की दृष्टि से उत्तर पश्चिम में शहबाजगढ़ी के, गुजरात में गिरिनार के, उत्तर में कालसी के तथा पूर्व में जौगड़ के शिलालेख प्रमुख हैं और विभिन्न स्थानीय बोलियों का परिचय देते हैं। इन सभी का अध्ययन करने से प्रकट होता है कि उस समय मध्यदेशीय जन-भाषा के अतिरिक्त, जो केन्द्रीय शासन के प्रदेश में प्रयुक्त होती थी, तीन विभिन्न जनभाषाएँ थीं— (१) उत्तर पश्चिम की जन भाषा, जिसका परिचय शहबाजगढ़ी

और मानसेरा के शिलालेखों से मिलता है। (२) दक्षिण-पश्चिम की जन-भाषा जिसका स्वरूप गिरिनार के शिलालेख में सुरक्षित है और (३) प्राच्या जन-भाषा जिसका स्वरूप जौगड़ और धौली आदि के शिलालेखों में प्राप्त होता है। यद्यपि इन तीनों पर केन्द्रीय भाषा का प्रभाव कुछ न कुछ दिखलाई पड़ता है परन्तु उपर्युक्त तीसरी जन-भाषा इससे सबसे अधिक प्रभावित थी। इसी प्रकार उत्तर पश्चिम और दक्षिण पश्चिम की जन भाषाओं में भी कुछ समानताएँ मिलती हैं परन्तु विभेदों के अधिक और स्पष्ट होने के नाते उन्हें अलग भाषाएँ मानना उचित है।[1] इन भाषाओं की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

अशोककालीन प्राकृतों की विशेषताएँ

(१) शिलालेखीय प्राकृतों का ध्वनि-समूह पालि के ही समान है। स्वरों में ऋ, ऌ, ऐ और औ का लोप हो गया है।

(२) अनुस्वार या संयुक्त व्यंजन के साथ का स्वर कभी-कभी ह्रस्व हो जाता है; यथा—धर्मानुशस्त्या>धंमनुसथिया।

(३) कभी-कभी स्वर ह्रस्व नहीं होता वरन् संयुक्त व्यञ्जन का

---

१. सेनार्ट ने इनके आधार पर केवल दो बोलियाँ ही मानी हैं। शहबाजगढ़ी और गिरिनार के शिलालेखों में विभेद होते हुए भी वे कुछ समानताओं के आधार पर उन्हें एकही विभाषा के दो स्थानीय भेद मानते हैं और अन्य में केन्द्रीय तथा प्राच्या को रखते हैं। परन्तु ये विभेद इतने स्पष्ट हैं कि दो बोलियाँ मानना वैज्ञानिक और उचित नहीं। विशेष विवरण के लिए देखिए—

(i) P. D. Gune—An Introduction to Com. Philology pp. 202-207 और Dr. M. A. Mahendale—Historical Grammar of the inscriptional prakrits.

सरलीकरण और स्वर का दीर्घ हो जाना ही पाया जाता है; यथा वर्षाभिसिक्तेन > वासाभिसितेन।

(४) उपसर्ग, प्रत्यय तथा पद के अन्त के स्वर कभी-कभी दीर्घ हो जाते हैं :—चिकित्सा > चिकीछ, सर्वत्र > सर्वता, अभिकार > अभीकाल।

(५) स्वरों में गुण-भेद भी मिलता है—च > चु, पुलिन्द > पिरिन्द, यादृशे > यारिसे, कृते > कता आदि।

(६) स्वरभक्ति के भी उदाहरण मिलते हैं:—व्यंजनतः > वियंजनते, गर्हा > गलहा।

(७) मध्य स्वर लोप भी दिखाई पड़ता है; यथा स्थविरे > थइरे > थेरे।

(८) पदान्त व्यञ्जनों का लोप करके पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ कर दिया गया है और पदान्त 'म्' 'न्' को अनुस्वार बनाया गया है।

(९) तालव्यीकरण सभी विभाषाओं में है। क्षण> छण, मोक्ष> मोछ, अद्य> अज। गिरिनार शि० की भाषा में यह अधिक मिलता है।

(१०) मूर्धन्यीकरण भी होने लगा। गिरिनार शि० में केवल, ध्, न्, का ही हुआ है जैसे औषध> ओसुढ, परन्तु अन्य में सर्वत्र है; यथा, कृत> कट, अर्थ> अठ, वृद्ध> बुठ आदि।

(११) स्वर मध्यग अघोष के स्थान पर सघोष व्यंजन मिलते हैं; जैसे अचल> अजल परन्तु अन्य स्थितियों में सघोष के स्थान पर अघोष भी हैं; जैसे—मग>मक।

(१२) स्वरमध्यग द् तथा व् के लोप गिरिनार शि० की भाषा में हैं; जैसे यादृश> यारिस, स्थविर> थइर। इसी प्रकार इस शिलालेख की भाषा में श् ष् के स्थान पर स् का ही प्रयोग मिलता है; दश> दस, मनुष्य<मनुस।

(१३) संयुक्त व्यंजनों में समीकरण और सरलीकरण की प्रवृत्ति

मिलती है। यह बात प्रायः सभी भाषा भेदों में परिलक्षित होती है—अभिषिक्त>अभिसित (गिरि०), उद्यानेषु>उपानेसु (गिरि०) और उयानसि (जौ०), मुख्य>मुख (शाह०) शक्य>शक (शाह०) आदि।

(१४) शब्द रूपों में भी यही सरलीकरण की प्रवृत्ति मिलती है। प्रथमा पुलिङ्ग एकवचन में 'अ' के स्थान पर गिरि० में 'ओ' शाह० में 'ओ' और शेष में 'ए' मिलता है। नपुंसक में भी कहीं-कहीं 'ए' मिलता है जीवम्>जिवे। लिंग भेद में गड़बड़ी आने लगी है। चतुर्थी में अय, अये मिलता है—एताय, अव्ये। पञ्चमी में 'आ' मिलता है—हितसा आदि। षष्ठी में 'स' 'स्स' मिलते हैं 'पियदसिसा' और पियदसिस्स। सप्तमी में गिरिनार तथा शाह० में म्हि, ए मिलते हैं शेष में सि, स्सि, ए। बहुवचन के विभक्ति रूपों में विशेष परिवर्तन नहीं मिलता।

(१५) धातु रूपों में भी सरलीकरण की प्रवृत्ति मिलती है। शाह० में धातुओं को 'अ' और 'अय' विकरण वाले गणों में सीमित कर दिया गया है। आत्मने पद भी लुप्त हो गया है। गिरिनार शि० में आत्मने पद रूप भी मिलते हैं और ध्वनि परिवर्तनों को छोड़कर सरलीकरण का प्रभाव कम है। प्राच्या में भी आत्मने पद का प्रायः अभाव है।

(१६) कृदन्त, क्रियार्थक तथा पूर्वकालिक रूप प्रायः सभी में मिलते हैं।

अशोककालीन प्राकृतों के बाद शिलालेखों में संस्कृत का प्रभाव

अशोककालीन प्राकृतों के इन प्रमाणों के अतिरिक्त ईसा-पूर्व के दो अन्य शिलालेख—खारवेल का हाथी गुम्फा अभिलेख तथा हिलिओदोरस का वेस नगर—भाषा-विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय

है। इनकी भाषा का अशोककालीन विभाषाओं से साम्य स्पष्ट है। साथ ही इनसे यह भी ज्ञात होता है कि बुद्ध तथा अशोक के समय से जो जनपदीय भाषाओं का व्यवहार बढ़ा था उससे विभेद इतने हो गये कि पारस्परिक विनिमय में कठिनाई होने लगी और संस्कृत का व्यवहार तथा उपयोग धर्म तथा शासन के कार्यों में पुनः होने लगा। इसीलिए ईसा के बाद के शिलालेख संस्कृत में ही मिलते हैं।

ई० पूर्व २०० से ईसा ३०० तक की अध्ययन सामग्री

ईसा पूर्व २०० से २०० ई० तक का समय भाषाओं के लिए एक प्रकार से संक्रान्ति काल था। इस काल में स्वर मध्यग अघोष-स्पर्शों के स्थान पर सघोषों का व्यवहार बढ़ा। इस प्रकार क-ख, ट-ठ, त-थ, प-फ क्रमशः ग-घ, ड-ढ, द-ध, ब-भ, हो गए और ड-ढ को छोड़कर अन्य प्राण ध्वनियुक्त हो गए। इस काल की अध्ययन-सामग्री मध्य-एशिया की नई खोजों से मिली है। यहीं से अश्वघोष के दो नाटक प्राप्त हुए हैं। 'धम्मपद' का एक संस्करण भी मिला है। ऑरेल स्टेन ने मध्य एशिया के शान-शान राज्य में खरोष्ठी लिपि में लिखे गए जो कागज-पत्र खोज निकाले हैं वे तीसरी शताब्दी ईसा के हैं। ये 'निय' नामक स्थान के आसपास मिले हैं अतएव इनकी भाषा 'निय-प्राकृत' कहलाती है। अब हम दोनों का संक्षेप में परिचय देंगे।

अश्वघोष की प्राकृतें

अश्वघोष ईसा की पहली शताब्दी के अन्त और दूसरी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। उनके लिखे हुए दो नाटकों में तीन प्रकार की प्राकृतों का उपयोग हुआ है—(१) दुष्ट की भाषा—इसमें प्राचीन मागधी की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। र् के स्थान पर ल्, जैसे—कारणाट>कालना; ष्-स् के स्थान पर श् जैसे—कस्य>

किश; अ एवं ओ के स्थान पर ए, जैसे—वृत्तः>वुत्ते, करोमि>कलेमि आदि का प्रयोग मिलता है। 'अहम्' का रूप 'अहकं' भी मिलता है और संबंधकारक एकवचन रूप 'हो' प्रत्यय से सिद्ध होता है जैसे 'मक्कटहो'। (२) गणिका एवं विदूषक की भाषा—इसमें प्राचीन शौरसेनी रूप सुरक्षित है और पालि से इसका साम्य अपेक्षाकृत अधिक है। इसमें ऋ>इ, यथा हृदयेन>हिदयेन; पदान्त अः>ओ, यथा दुष्करः>दुक्करो; क्ष>क्ख, यथा साक्षी>साक्खी; न्य् और ज्ञ>ञ्ञ् जैसे हन्यन्तु>हञ्ञन्तु, अकृतज्ञ>अकितञ्ञ; व्य्>व्व् जैसे धारयितव्यः>धारयितव्वो आदि विकास मिलते हैं। कुछ विचित्र प्रयोग भी इसमें मिलते हैं (३) गोभम की भाषा—इसे अर्धमागधी का प्राचीन रूप माना गया है इसमें र् के स्थान पर ल् तथा अः के स्थान पर ए हैं परन्तु श् नहीं है यथा भर्तृदारिके>भट्टिदालके।

निय-प्राकृत

निय प्राकृत का उपलब्ध स्वरूप तीसरी शताब्दी ईसा का माना जाता है। यह भाषा मूलतः उत्तर-पश्चिमी जनपदीय भाषा का ही एक रूप है जो ईरानी, मंगोली, तुखारी आदि से प्रभावित है। प्राकृत धम्मपद इसी भाषा में मिलता है। इसकी समस्त सामग्री खरोष्ठी में मिली है और खरोष्ठी का उपयोग होने के कारण दीर्घ स्वरों के स्थान पर ह्रस्व स्वर और संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर केवल एक ही व्यंजन लिखा मिलता है। इसकी मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

(१) तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों में 'अय्' 'अव्' सुरक्षित है—जयंत, अवश्यम्>अवश आदि।

(२) पदान्त य, या, ये>इ हो गये हैं, जैसे—आरोग्यम्>अरोगि, भावयेः>भवइ, समादाय>समदि, भावनायां>भमणइ आदि।

(३) ऋ के स्थान पर रि हो गया है। कहीं कहीं ऋ का अ, इ, उ भी मिलता है। कृत>किड, प्राभृत>पहुद, प्रकृत>प्रगटा आदि।

(४) ए>इ; जैसे क्षेत्र>छित्र, तेन>तिन, इमे>इमि।

(५) स्वर मध्यग स्पर्श, ऊष्म और संघर्षी बहुधा सघोष हो गए हैं परन्तु कहीं कहीं 'अ' या 'ह्' भी मिलता है, यथा—यथा>यध, अवकाश>अवगज, दास>दझ, रोगनीड>रोगनेड, धार्मिकः> धम्मिहो।

(६) सघोष के स्थान पर अघोष भी कहीं कहीं हैं, यथा— विरागः>विरकु, ग्लानः>किलने।

(७) प्राणध्वनि का भी लोप मिलता है—धास>गास, भूमि> बूम।

(८) श्, ष्, स् तीनों मिलते हैं परन्तु 'स्' का प्रयोग अधिक है। सघोष ऊष्म 'ज़्' भी मिलता है।

(९) व्>म्, हो गया है, यथा नावम्>नम, चीवर>चिमर हो गया है।

(१०) पदान्त अः>ओ हो गया है। यह ओ>उ हो गया है पण्डितः>पनितु।

(११) र्, ल् युक्त संयुक्त व्यंजन अविकृत रहे। जैसे अल्प> अल्प।

(१२) जहाँ संयुक्त व्यंजनों में द्वितीय अनुनासिक थे वहाँ वे सुरक्षित रहे जैसे, तृष्णा>तृष्णा। जहाँ पहला अनुनासिक था और दूसरा सघोष स्पर्श वहाँ केवल अनुनासिक रह गया, जैसे,—खन्द> खन्न, भन्द>भन।

(१३) श्>ष् हो गया, जैसे श्रावक>षवक। ध् के स्थान पर 'स्' और 'ज़्' मिलते हैं—मधु>मसु।

(१४) च्छ मिलता है किन्तु केवल भिक्षु>भिच्छु इसका अपवाद है।

(१५) द्विवचन का लोप (केवल दो प्रयोग मिलते हैं 'पदेभ्यम' और 'पदेयो') हो गया।

(१६) 'त्वा' प्रत्यय के स्थान पर त्वि मिलता है श्रुत्वा>श्रुनिति।

द्वितीय युग 1965-68
साहित्यिक प्राकृतें

भाषा के प्रथम युग के उत्तरार्ध में जो ध्वनि परिवर्तन प्रारम्भ हुए थे उनमें स्वर मध्यग अघोष स्पर्शों का सघोष हो जाना प्रमुख है। धीरे धीरे इन स्वरमध्यग सघोषों का उच्चारण शिथिल हो गया और ये ऊष्म के रूप में बोले जाने लगे और तत्पश्चात् ये लुप्त हो गए। यह लोप ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी तक हो गया और प्राकृतों का एक निश्चित स्वरूप सामने आ गया था। सघोष स्पर्शों के इस ऊष्म उच्चारण का मध्यवर्ती रूप केवल जनभाषा में ही प्रकट हुआ और इसीलिए परवर्ती वैयाकरणों ने यह न जान पाया कि सघोषों का ऊष्मीकरण और तदुपरान्त लोप दो क्रमशः विकसित स्तर हैं और उन्होंने इन्हें समकालीन माना। इस प्रकार उनकी समझ से शौरसेनी (जिसमें ऊष्म रूप मिलते हैं) और महाराष्ट्री जिसमें स्वरमध्यग सघोषों का लोप हो गया था) समकालीन हैं परन्तु अब नई खोजों के आधार पर विद्वानों का विचार है कि ये पूर्वापर स्थितियाँ हैं और इसीलिए महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत में इतनी समता है। वास्तव में शौरसेनी तथा महाराष्ट्री एक ही भाषा के दो आगे-पीछे के रूप हैं।

साहित्यिक प्राकृतों के विभिन्न भेद

'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकृति' (जन-साधारण) से की गई है अर्थात् शिष्ट-परिगृहीत भाषा—संस्कृत से भिन्न जन-सामान्य की भाषा 'प्राकृत' कहलाती थी। प्राकृत में साधारणतः जैन-आगमों की 'आर्षी' या अर्धमागधी, साहित्यिक रचनाओं की 'मागधी, 'शौरसेनी' महाराष्ट्रीय तथा 'पैशाची'-पाँच विभाषाएँ आती हैं। ये पाँच विभाषाएँ हमें साहित्यिक रचनाओं में सुरक्षित मिलती हैं। अनुमानतः साहित्य में व्यवहृत होने के पहिले ये लोक भाषाएँ रही होंगी और उन्हीं से विकसित होकर साहित्यिक भाषाएँ बनीं, परन्तु लोक-

भाषा-रूपों का कोई परिचय आज के दिन नहीं मिलता। अब इनकी विशेषताओं का क्रमशः वर्णन किया जायगा।

शौरसेनी प्राकृत

शौरसेनी प्राकृत मूलतः शूरसेन (मथुरा के आस पास) प्रदेश की भाषा थी। (मध्यदेश में विकसित होने के कारण) इस पर संस्कृत का प्रभाव अधिक मिलता है। यह संस्कृत नाटकों में गद्य की भाषा के रूप में प्रयुक्त हुई है। इसके अलावा स्त्री पात्र और विदूषक इसका प्रयोग करते हैं। (वररुचि ने प्राकृत-प्रकाश के बारहवें परिच्छेद में इसका वर्णन किया है। हेमचन्द्र ने भी अपने प्राकृत व्याकरण के चौथे पाद में इसका वर्णन किया है।[1]) इसकी कुछ विशेषताएँ निम्न हैं—

(१) स्वरमध्यग त्, थ् का द्, ध् मिलता है, यथा आगतः > आगदो, आदि। यह द्, ध् और संस्कृत में विद्यमान मूल द्, ध् भी शौरसेनी में वर्तमान हैं, जैसे कथय > कधेहि, गच्छति > गच्छदि, गद आदि।[2]

(२) 'क्ष' से 'क्ख' का विकास हो गया है—कुक्षि > कुक्खि, इक्षु > इक्खु।

(३) 'ण्य्' 'ज्ञ' 'न्य् के स्थान पर विकल्प से 'ञ्ञ्' मिलता है।[3] कन्यका > कञ्ञका। इसी प्रकार र्य > य्य, ज्ज मिलते हैं।[4]

१—प्राकृत व्याकरण चतुर्थपाद सूत्र २६० से सूत्र २८६ तक—हेमचन्द्र (ed. P. L. Vaidya)

२ (i) तो दोनादौशौरसेन्यामुक्तस्य—प्राकृत व्याकरण ४।२६०
(ii) घोधः—प्राकृत व्याकरण ४।२६७

३—ब्रह्मण्य-विज्ञ-यज्ञकन्यकानांण्यज्ञन्यानां ञ्ञो वा—प्राकृत प्रकाश १२।७

४—न वा र्योय्यः—प्राकृत व्याकरण ४।२६६

(४) संयुक्त व्यंजनों के समीकरण और पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ करने की प्रवृत्ति शौरसेनी में अधिक नहीं है।

(५) विधि प्रकार (optative) के रूप संस्कृत के ही समान बनते हैं। महाराष्ट्री में इसके लिए 'ज्ज' लगता है, जैसे—वर्तेत> वट्टे (महा०> वट्टेज्ज)

(६) कर्मवाच्य की प्रत्यय 'य' का 'ईअ' हो जाता है, जैसे गम्यति>गमीयदि। शौरसेनी की एक विभाषा आवन्ती का भी उल्लेख प्राकृत वैयाकरणों ने किया है। इसी प्रकार टक्की या टक्क देशीया का भी उल्लेख मिलता है। आवन्ती शौरसेनी तथा महाराष्ट्री की मिश्रित-बोली थी[1] और टक्की[2] संस्कृत और शौरसेनी का मिश्रित रूप थी।

मागधी प्राकृत

मागधी प्राकृत शौरसेनी से प्रभावित रही है, इसीलिए कुछ वैयाकरण इसे शौरसेनी से विकसित मानते हैं।[3] यह मूलतः मगध प्रदेश की भाषा थी। संस्कृत नाटकों में निम्नकोटि के पात्र इसका उपयोग करते हैं। प्राच्या के आधार पर विकसित होने के कारण इसमें परिवर्तन की गति सबसे अधिक तीव्र रही है। इसकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) मागधी में 'र्' तथा 'स्' 'ष्' का सर्वथा अभाव है और 'र्' > 'ल्'[4] तथा 'स्', 'ष्'> 'श्'[5] हो जाता है। यथा राजा > लाजा, पुरुषः > पुलिशे, समर > शमल।

१—महाराष्ट्री शौरसेन्योर्ऐक्यम्।

२—'संस्कृत शौरसेन्योः'—पुरुषोत्तमदेव—प्राकृतानुशासन----१६।१

३. प्रकृतिः शौरसेनी—प्राकृत प्रकाश ११।२

४. रसोर्लं शौ—प्राकृत व्याकरण ४।२८८

५. षसोः शः —प्राकृत प्रकाश ११।३

(२) 'ज्' > 'य्'[1] और 'झ्' > 'ह्' हो जाते हैं यथा जायते > यायदे, झटिति > ह्रति, जनपद > यणवद।

(३) 'द्य्', 'र्ज्', 'र्य्' > 'य्य्'[2] मिलता है यथा अद्य > अय्य, आर्य > अय्य।

(४) 'ण्य्', 'न्य्', 'ञ्' 'ञ्ज्' > ञ्ज्[3]; यथा—पुण्य > पुञ्ज राज्ञः > लाञ्ञो आदि।

(५) 'च्छ्' > 'श्च'[4] और 'क्ष्' > 'श्क'; यथा पृच्छ > पुश्च, पक्ष > पश्क आदि।

(६) स्वरमध्यग 'द्' शौरसेनी के ही समान यहाँ भी सुरक्षित है।

(७) प्रथमा एक वचन का अः > ए—यथा सः > शे।

प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी की चाण्डाली तथा शावरी विकृतियों का उल्लेख किया है। साथ ही शाकारी इसकी विभाषा प्रतीत होती है। पुरुषोत्तमदेव ने प्राकृतानुशासन में इसे मागधी के समान मानते हुए कुछ विभिन्नताएँ भी प्रदर्शित की हैं, जैसे च् > श्च्—तिष्ठ > चिष्ठ > श्चिष्ठ, सम्बन्ध कारक एक वचन में अह प्रत्यय (चारुदत्तस्य > चालुदत्ताह) और अधिकरण एक वचन में आहिं प्रत्यय (प्रवहणे > पवहणाहिं)।

अर्धमागधी प्राकृत

अर्धमागधी कोशल और काशी प्रदेश की भाषा थी। यह मागधी और शौरसेनी की सीमाओं पर बोली जाती थी। इसमें दोनों के

---

१. जो यः —प्राकृत प्रकाश ११।४

२. (i) र्यर्जयोर्य्यः —प्राकृत प्रकाश ११।७
(ii) जथर्यां यः —प्राकृत व्याकरण ४।२६२

३. न्यण्यज्ञां ञ्जः —प्राकृत व्याकरण ४।२६३

४. छस्य श्चोनादौ —प्राकृत व्याकरण ४।२६५

लक्षण मिलते हैं। इस भाषा का उपयोग जैन धर्माचार्यों ने समस्त जैन धार्मिक साहित्य की रचना में किया है। वे इसे 'आर्षी' कहते थे। कुछ जैन-आचार्यों ने शौरसेनी और महाराष्ट्री में रचनाएँ की हैं पर वे आर्षी से प्रभावित हैं और जैन-शौरसेनी तथा जैन-महाराष्ट्री कहलाती हैं। संस्कृत के शारिपुत्र-प्रकरण (अश्वघोष) नाटक में भी इसका प्रयोग हुआ है। इसकी विशेषताएँ निम्न हैं—

(१) 'र्' 'ल्' दोनों ध्वनियाँ विद्यमान हैं।

(२) ष् और श् के स्थान पर स् तथा स्म का प्रतिरूप 'ँ स्' मिलते हैं, यथा तस्मिन् > तँसि; अशोक > असोग और श्रावक > सावग।

(३) 'स्स' का 'स्' रह जाता है और पूर्व ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है, यथा वर्ष > वस्स > वास।

(४) 'अः' से 'ए' (मागधी के समान) और 'ओ' (शौरसेनी के समान)—दोनों बनते हैं। अन्तिम अधिकतर काव्य-भाषा में प्रयुक्त होता है।

(५) स्वर मध्यग लुप्त स्पर्शों का स्थान 'य्' (श्रुति) ले लेती है; जैसे—सागर > सायर, कृत > कय आदि।

(६) दन्त्य व्यंजनों का मूर्धन्यीकरण अधिक मिलता है।

(७) पूर्वकालिक प्रत्यय त्वा > त्ता और त्य > च्चा हो जाते हैं। वैदिक 'त्वाय' भी मिलता है और 'तुमुन्नन्त' शब्दों का पूर्वकालिक के समान प्रयोग भी मिलता है, जैसे—कृत्वा के लिए काउँ (कर्तुम् > काउँ)।

महाराष्ट्री प्राकृत

साहित्यिक प्राकृतों में महाराष्ट्री प्रधान और आदर्श (standard) मानी गई है। विकास की दृष्टि से इसमें ध्वनियों के परिवर्तन की गति बड़ी तीव्र रही है। इसमें स्वरमध्यग स्पर्श व्यंजन क्, त्, प्,

ग, द्, व्, का पूर्ण लोप हो गया है और ख्, थ्, फ्, घ्, ध्, भ् में भी केवल प्राण ध्वनि शेष रह गई है (यह मभाआ के द्वितीय युग के विकास की चरमावस्था है) यही बात इसमें शौरसेनी से भिन्न है) श्री मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री वास्तव में शौरसेनी का ही एक विकसित स्तर है। प्रारम्भ में दोनों में स्थानगत भेद न था। इसके बाद महाराष्ट्री दक्षिण में पहुँची। वहाँ यह लोक भाषा के प्रभाव से विकसित हुई और तब यह काव्य भाषा के रूप में समस्त उत्तरापथ में प्रयुक्त होने लगी। श्रीसेन का भी यह विचार है[1] कि महाराष्ट्री में स्थानगत भेद न था। इस प्रकार यह प्रकट है कि महाराष्ट्री शौरसेनी प्राकृत का विकसित रूप है और शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की स्थिति का ज्ञान कराती है। संस्कृत के साथ-साथ इस युग में महाराष्ट्री में भी काव्यरचना की गई। 'गउडवहो' तथा 'सेतुबन्ध' के अतिरिक्त संस्कृत नाटकों में भी मध्यम कोटि के पात्रों की काव्य भाषा यही थी। प्राकृत वैयाकरणों ने पहले इसी का विवेचन किया है और तब अन्य भेदों के लक्षण इसी के आधार पर दिए हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) स्वरमध्यग अल्पप्राण स्पर्श क् त् प् ग्,द्, ब् का लोप हो गया है और महाप्राण ख्, थ्, फ्, घ्, ध्, म् में केवल 'ह्' (महाप्राणत्व) शेष रह गया है, यथा कथम् > कहं, प्राभृत>पाहुड, प्राकृत>पाउअ आदि।

(२) स्वर मध्यग 'स्' के स्थान पर 'ह्' हो गया है, जैसे पाषाण >पाहाण।

---

1. "There is no reason to assign Maharastri to a fixed dialect area"—Dr. Sukumar Sen—Comparative Grammar of Middle Indo-Aryan P. 15.

(३) क्रिया विशेषण 'आहि' का प्रयोग अपादान एक वचन में होता है जैसे दूरात् के लिए दूराहि, इसी प्रकार मूलाहि आदि।

(४) अधिकरण एकवचन में 'म्मि' या 'ए' लगता है यथा—लोकस्मिन् >लोअम्मि, लोए।

(५) धातु कृ का विकास निश्चयार्थ में प्राचीन फारसी 'कु' के समान होता है, जैसे कृणोति>कुणइ (पा० फा० रूप कुनौतिय)।

(६) कर्मवाच्य 'य' का 'इज्ज' बनता है—गम्यते>गमिज्जइ।

(७) आत्मन् का प्रतिरूप अप्प है।

(८) पूर्व कालिक क्रिया 'ऊण' के योग से सिद्ध होती है, जैसे, पृष्ट्वा>पुच्छिऊण।

पैशाची प्राकृत

पैशाची भी प्राकृतों के ही अन्तर्गत रखी जाती रही है। इसकी कोई साहित्यिक रचना उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि गुणाढ्य की बृहद् कथा (वड्डकहो) मूलतः पैशाची में लिखी गई थी परन्तु वह अब मिलती नहीं है। वररुचि ने इसका उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने इसे 'चूलिका-पैशाचिका' कहा है। दण्डी के द्वारा कथित भूतभाषा भी सम्भवतः यही है। परवर्ती वैयाकरणों को इसकी ठीक ठीक जानकारी न थी और उन्होंने भी इसके विषय में कोई महत्वपूर्ण बात नहीं बताई है। यह भाषा कुछ विद्वानों के अनुसार उत्तर-पश्चिम में काश्मीर के आसपास बोली जाती थी। पुरुषोत्तम, मार्कण्डेय आदि ने इसके तीन प्रधान भेद बताए हैं—कैकेय पैशाचिका, शौरसेनी पैशाचिका और पांचाल पैशाचिका। कैकेय संस्कृत और शौरसेनी की विकृति बताई गई है।[1] शौरसेनी पैशाचिका प्रमुख विभाषा कही गई है और मागधी तथा महाराष्ट्री से प्रभावित

---

१. संस्कृत शौरसेन्योविकृतिः —प्राकृतानुशासन १९।३

है। पांचाल पैशाचिका लोकभेद से कुछ भिन्न[1] मानी गई है। ग्रियर्सन ने इस विषय पर विशेष विचार किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत की भाषा थी और दरद भाषा-समूह से प्रभावित थी। इसकी विशेषताएँ निम्न हैं—

(१) सघोष के स्थान पर अघोषों का प्रयोग,[2] जैसे—नगर> नकर, राजा>राच।

(२) स्वरमध्यग व्यंजनों का लोप नहीं होता।

शौरसेनी की विशेषताएँ हैं—(१) र् > ल्[3], (२) ह् > श्क्[4], (३) ष्ट्—श्त्[5], (४) स्, ष् > श्[6], (५) च्छ् > श्च्[7], (६) स्थ् > श्त्[8] (७) अकारान्त शब्दों के प्रथमो एकवचन विभक्ति रूप का लोप और द्वितीया एकवचन के रूप का विकल्प से लोप।

तीसरा युग—अपभ्रंश भाषाएँ

भाषाओं के विकास का अन्तिम रूप अपभ्रंश भाषाएँ हैं। अपभ्रंश भाषाएँ प्राकृतों और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी हैं। जब साहित्यिक प्राकृतें साहित्य के क्षेत्र में प्रयुक्त होने लगीं और उन्हें वैयाकरणों ने नियमबद्ध कर दिया, तो देशी भाषाएँ प्राकृतों से दूर जा पड़ीं क्योंकि वे तो स्वच्छन्द गति से

---

१. पांचालादयः स्वल्पभेदा लोकतः —प्राकृतानुशासन २०।१८

२. वर्गाणां तृतीयचतुर्थशोरयुजो रनाद्योराद्यौ—प्राकृत प्रकाश १०।३

३. रोलः —प्राकृतानुशासन २०।२

४. ह्यस्यस्कः—प्राकृतानुशासन २०।५

५. स्तस्य ष्टाविकृतिः ष्टः—प्राकृतानुशासन २०।८

६. षसो शः—प्राकृतानुशासन २०।३

७. च्छस्य श्चः—प्राकृतानुशासन २०।६

८. स्थस्य श्तः—प्राकृतानुशासन २०।७

विकसित होती रही थीं और धीरे-धीरे ईसा की छठवीं शताब्दी तक भाषाओं के विकास में भाषाओं के एक नए स्वरूप को लक्षित किया गया। ये विकसित भाषाएँ अपभ्रंश के नाम से अभिहित की गईं।

अपभ्रंश शब्द के प्रयोग

'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में महाभाष्यकार ने किया है। 'पस्पशाह्निक' में पतंजलि कहते हैं :—

"भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयाँसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः,[1] तद् यथा गौरित्यस्यशब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयोऽप भ्रंशाः।" इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि पतंजलि ने 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग अपशब्द अर्थात् 'अपाणिनीय' शब्दों के लिए किया है। असाधु शब्दों को अपभ्रंश की संज्ञा अन्य संस्कृत—आचार्यों ने भी दी है। दण्डी ने काव्यादर्श में,[2] भरत ने नाट्यशास्त्र में[3] तथा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में[4] इसका प्रयोग किया है। भाषा के अर्थ में अपभ्रंश

१. पतंजलि—महाभाष्य—पस्पशाह्निक—पृष्ठ ६६ (निर्णयसागर संस्करण)

(ii) 'गावी' शब्द 'गाभी' के रूप में बंगला में वर्तमान है और गोणी शब्द सिंधी में आज भी मिलता है शेष शब्दों का पता नहीं लगता। हो सकता है ये उस समय जन-भाषा में प्रचलित रहे हों और अब लुप्त हो गए हों।

२. शास्त्रेतु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्—काव्यादर्श—१।३६

३. समान शब्दं विभ्रष्टं देशी गतमथापिच—नाट्यशास्त्र १०।३

४. शब्द संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थानवेशिनम्॥ —वाक्यपदीय—काण्ड १ कारिका १४८

शब्द का प्रयोग भामह ने अपने ग्रन्थ में किया है[1] और संस्कृत तथा प्राकृत के बाद अपभ्रंश का उल्लेख किया है। छठवीं शताब्दी में प्राकृत वैयाकरण चण्ड ने भाषा के अर्थ में इसका प्रयोग किया है[2] और इसी शती में वलभी के राजा धरसेन द्वितीय ने अपने एक ताम्रपत्र में अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की प्रबन्ध रचना में निपुण बताया है।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि अपभ्रंश शब्द का भाषा के अर्थ में प्रयोग छठवीं शती तक रूढ़ हो गया था और अपभ्रंश का स्वरूप लोक-भाषा के रूप में इस शती तक विकसित हो चुका था।

लोकभाषा के रूप में अपभ्रंश के प्रयोग का युग

प्राकृत की साहित्यिक कृतियों में अपभ्रंश का बीज हमें प्रायः चौथी शताब्दी से मिलने लगता है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक के श्लोकों में न केवल अपभ्रंश का प्रभाव ही दिखाई पड़ता है वरन् उनमें प्रयुक्त छन्द भी अपभ्रंश के ही छंद हैं, प्राकृत के नहीं[4]। ध्वनि और पदरचना की दृष्टि से भी इनकी भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश के बहुत समीप है। 'कुवलयमाला कहा' में तो अपभ्रंश के गद्य के भी नमूने मिलते हैं। इसी प्रकार ईसा की आठवीं शती तक अन्य प्रमाण भी खोजे जा सकते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि आठवीं शती से अपभ्रंश में रचनाएँ होने लगी थीं। परन्तु इस समय तक भी अपभ्रंश लोक-भाषा ही थी। नवीं

---

१. संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा—काव्यालंकार १।१६

२. न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य—प्राकृत लक्षणम्—३-३७

३. 'संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनो निपुणान्तःकरणः'।

४. देखिए विक्रमोर्वशीय नाटकम्—चतुर्थ अंक—श्लोक सं० से तक

शताब्दी में रुद्रट[1] ने संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश का उल्लेख करते हुए उसके अनेक देशभेदों का संकेत किया है। ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश साहित्य मात्र की ही भाषा रह गई और जन-भाषा और आगे बढ़ गई। उसी शताब्दी के वैयाकरण पुरुषोत्तमदेव ने शिष्टों के प्रयोग से उसे जानने की सलाह दी है। बारहवीं शताब्दी में अपभ्रंश-वैयाकरण हेमचन्द्र ने तो स्पष्टतः अपभ्रंश में तथा ग्राम्य भाषा में भेद किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश में साहित्य रचना यद्यपि आठवीं शती से ही प्रारम्भ हो गई थी परन्तु वह लोक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही। प्रायः ग्यारहवीं शती तक वह शिष्ट जनों की भाषा हो गई। बारहवीं शती में अपभ्रंश का व्याकरण लिखा जाना ही यह सूचित करता है कि इस समय तक अपभ्रंश से लोक-भाषा दूर चली गई थी। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अपभ्रंश लोकभाषा के रूप में प्रायः ६०० ई० से ११०० ई० तक प्रयुक्त होती रही। यही भाषा के विकास का अन्तिम चरण था। इसके पश्चात् आधुनिक आर्य-भाषाओं का उदय हुआ।

अपभ्रंश का क्षेत्र और प्रसार

अपभ्रंश भाषा का प्रयोग सर्वप्रथम किस क्षेत्र में हुआ और कहाँ उसका विकास हुआ, यह एक विचारणीय विषय है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'आभीरोक्ति'[2] का उल्लेख किया है और इसे 'उकार बहुला' बताया है। ललित विस्तर में भी इसका संकेत मिलता है। छठी शती में दण्डी ने बताया है कि काव्य में

---

१. षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः—रुद्रटकृत काव्यालंकार २।१२

२. आभीरोक्तिः

'आभीरादि' की भाषा अपभ्रंश कहलाती है।[१] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस उकार बहुला भाषा का उल्लेख भरत ने किया है वह अपभ्रंश की ही पूर्व रूप है। भरत के अनुसार इसका प्रयोग हिमवत्, सिन्धु, सौवीर और इनके आश्रित देशों के लोगों के लिए किया जाना चाहिए।[२] इससे प्रकट होता है कि अपभ्रंश की प्रारम्भिक विशेषताएँ भारत के पश्चिमोत्तर में ही सर्वप्रथम प्रकट हुई थीं। इसके बाद अपभ्रंश का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ता गया और आठवीं से दसवीं शताब्दी तक इसका आधिपत्य प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर हो गया। दसवीं शती में राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्य-मीमांसा में कहा है कि मरुभूमि, टक्क और माया देशों तक के निवासी (साहित्यिक) अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं।[३] इस कथन से भी यही ज्ञात होता है कि राजशेखर के समय तक अपभ्रंश का प्रयोग राजपूताना और पंजाब देश तक हो गया था। अपभ्रंश के इतने व्यापक प्रसार के राजनैतिक कारण भी थे। प्रायः आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पूर्व में पालवंश तथा दक्षिण पश्चिम में मान्यखेट के राष्ट्रकूटों का उदय अपभ्रंश के लिए वरदान के समान सिद्ध हुआ। मान्यखेट के राष्ट्रकूटों में जैनों का बड़ा प्रभाव था और उनके संरक्षण में अपभ्रंश का व्यापक प्रसार हुआ। स्वयं राष्ट्रकूट नरेश भी अपभ्रंश या जन-भाषा के पक्षपाती थे। उधर पूर्व में पालवंश के राजाओं के संरक्षण में अपभ्रंश का विकास हुआ।

---

१. आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।—काव्यादर्श १।३६

२. हिमवत्सिंधुसौवीर येऽन्यदेशान् समाश्रिताः। उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत॥—भरतमुनि—नाट्यशास्त्र।

३. देखिए Keith A. B.—A History of Sanskrit Literature, Pages 32-35.

चर्यापदों के रचयिता सरहपा—कन्हपा आदि चौरासी सिद्ध पालों के ही शासनकाल में हुए। तात्पर्य यह है कि नवीं शताब्दी में पूर्व में बंगाल से लेकर दक्षिण-पश्चिम में मान्यखेट तक और सुदूर उत्तर में टक्क आदि प्रदेशों तक इसका प्रसार हो गया। राष्ट्रकूटों के उपरान्त गुजरात के सोलंकी राजाओं के यहाँ भी अपभ्रंश को बड़ा प्रश्रय मिला। महामुनि हेमचन्द्र जैसे विद्वान इन्हीं के संरक्षण में रहे थे। इस प्रकार यह प्रकट हो गया कि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश में प्रायः समस्त उत्तरी भारत में साहित्य-रचना होने लगी थी और यही कारण है कि अपभ्रंश का साहित्य प्रायः सभी प्रदेशों में मिलता है फिर भी पश्चिमोत्तर भारत में इसका अधिक समादर था इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

अपभ्रंश और आभीर जाति

डॉ० कीथ प्रभृति विद्वान् अपभ्रंश भाषा को आभीर जाति के साथ जोड़ते हैं।[1] उनका विचार है कि अपभ्रंश आभीरों के साथ भारत में आई और उत्तर पश्चिम में बोली जाती रही। आभीरों के राजनैतिक प्रभाव के साथ ही वह समस्त पश्चिमोत्तर भारत में फैल गई। इस प्रकार के मत का आधार दण्डी की 'आभीरगिरः' उक्ति विशेष रूप से है। इस मत में केवल इतना ही सार समझना चाहिए कि पश्चिमोत्तर से आई हुई आभीर तथा गुर्जर आदि जातियों के प्रभाव और सम्पर्क से अपभ्रंश के ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणिक स्वरूप के विकास में गति आई होगी, जैसा कि अन्य सभी के विषय में सत्य है। आभीर-गुर्जर जातियाँ भारत में आकर भारतीय वर्णाश्रम धर्म तथा समाज व्यवस्था में समा गई थीं और स्थानीय बोली भी उन्होंने ग्रहण की। उसी के सम्पर्क से पश्चिमोत्तर में भाषा-स्तर के

---

२. आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः—काव्यादर्श १।३६

परिवर्तन के लक्षण सर्वप्रथम प्रकट हुए। हो सकता है कि उनकी बोली के कुछ शब्द जन-भाषा में आ ही गए हों परन्तु इससे अधिक बढ़ना उचित नहीं। दण्डी के जिस कथन के आधार[1] पर डॉ० कीथ ने अपना मत प्रतिपादित किया है, उसका भी यह अभिप्राय नहीं कि अपभ्रंश बाहर से आई हुई एक नूतन भाषा थी। रुद्रट ने तो स्पष्ट ही इसके देश भेद बताए हैं[2] जिनसे अपभ्रंश का जन-भाषा होना प्रकट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अपभ्रंश के विकास में आभीरादि का भी योग रहा है और उनका इस भाषा-स्तर के प्रारम्भिक विकास में कुछ हाथ रहा है परन्तु यह मानना कि यह उनके साथ बाहर से आई हुई बोली थी नितान्त भ्रामक, असंगत और भाषा-शास्त्रीय परम्पराओं के प्रतिकूल है।

अपभ्रंश की विभाषाएँ

अपभ्रंश के विभिन्न भेदों का प्राचीन ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। विष्णु धर्मोत्तर में, देश भेद से अपभ्रंश के अनन्त भेद माने गए हैं।[3] नमिसाधु ने उपनागर, आभीर और ग्राम्य—तीन भेद बतलाए हैं[4] और मार्कण्डेय ने भी तीन भेदों का ही वर्णन किया है—नागर, उपनागर और ब्राचेड।[5] मार्कण्डेय के उल्लेख से यह भी पता लगता है कि

१—डा० कीथ के मत के विस्तृत खण्डन के लिए देखिए—डा० श्यामसुन्दर दास—हिन्दी भाषा पृ० १८-२०

२—षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंशः —रुद्रट कृत काव्यालंकार २।१२

३—देश भाषा विशेषेण तस्यान्तो नैव विद्यते--विष्णुधर्मोत्तर ३।३

४—सचान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थं मुक्तं भूरिभेद इति। नमिसाधु कृत टीका काव्यलंकार २।१२

५—नागरो ब्राचडश्चोपनागर श्चेति ते त्रिधा।
अपभ्रंशः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ्मता॥ प्राकृत सर्वस्व—७

कुछ लोग उस समय स्थान भेद से अपभ्रंश के सत्ताइस भेद मानते थे।[१] परन्तु इनका खण्डन प्राचीन आचार्यों ने ही कर दिया है। उपभेदों का अध्ययनकरने पर ज्ञात होता है कि नमिसाधु के उपनागर अपभ्रंश को ही मार्कण्डेय ने नागर माना है। यह स्टैन्डर्ड अपभ्रंश थी। ब्राचड को मार्कण्डेय ने सिंधु-देशोद्भव कहा है और उपनागर को नागर और ब्राचड का संकर। अपभ्रंश के इन विभेदों से उसके मौलिक भेदों का सही-सही पता नहीं लगता। कुछ आधुनिक विद्वानों का विचार है कि प्रत्येक प्राकृत विभेद का अपभ्रंश विभेद के रूप में विकास हुआ था।[२] अपभ्रंश का वर्गीकरण आधुनिक समय में क्षेत्रीय आधार पर भी किया गया है। डा० याकोबी ने अपभ्रंश के पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी, दक्षिणी—चार भेद किए हैं। परन्तु ऐसे वर्गीकरण का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। डा० तागरे ने डा० याकोबी के वर्गीकरण की त्रुटियों का प्रदर्शन कर के उनके पूर्वी और उत्तरी विभेदों को ठोस प्रमाणों पर आधारित नहीं बताया है।[३] इसके स्थान पर उन्होंने एक त्रिधा वर्गीकरण का सुझाव दिया है जिसमें भाषा-व्याकरण-संबंधी भेद करने का भी प्रयास किया है। ये भेद हैं—दक्षिणी, पश्चिमी और पूर्वी।[४] डा० तागरे ने दक्षिणी

१—मार्कण्डेय कृत प्राकृतसर्वस्व—४

२—"प्रत्येक म० भारतीय आर्य भाषा को अपभ्रंश की स्थिति पार करनी पड़ी है"—डा० उदयनारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास—पृ० १२०

३—विस्तृत विवरण के लिए देखिए —Dr. G. V. Tagare-Historical Grammar of Apabhramsa—Introduction —p. 66

४—Dr. G. V. Tagare—Historical Grammar of Apabhramsa—p. 68.

अपभ्रंश का आधार पुष्पंदत के महापुराण, जसहर चरिउ और णाय-कुमार चरिउ तथा कनकायर के करकंड चरिउ-ग्रंथों को बनाया है। उन्होंने दक्षिणी अपभ्रंश की भिन्न विशेषताओं को बताया है वे, अध्ययन करने पर, वास्तव में स्थान गत नहीं, शैलीगत ही सिद्ध होती हैं। उनमें प्राकृत-प्रभाव ही अधिक है। पश्चिमी अपभ्रंश के ग्रंथ 'भविस्सयत्त कहा' और महापुराण की भाषा में वास्तव में कोई मौलिक विभेद नहीं है और डा० तागरे के दक्षिणी अपभ्रंश नामक भेद को ठोस प्रमाणों पर आधारित नहीं माना जा सकता है।[1] डा० तागरे के पूर्वी अपभ्रंश नामक प्रभेद में ध्वनि और व्याकरण विषयक अन्तर मिलता है। चर्यापदों की भाषा का विश्लेषण करके तो इस भेद की स्थापना और बल पूर्वक की जाती है। अल्फ्रेड मास्टर ने पूर्वी अपभ्रंश के विभेद पर जो आधार-सामग्री की स्वल्पता विषयक आपत्ति की है, वह चर्यापदों का अध्ययन करने से समाप्त हो जाती है।[2] इस प्रकार अल्फ्रेड मास्टर का यह विचार कि डा० तागरे का वर्गीकरण उचित है और स्वयं डा० तागरे का वर्गीकरण भी पूर्णतया प्रमाणित नहीं हो पाता। वास्तव में, वर्तमान सामग्री के सम्यक् विश्लेषण के उपरान्त अपभ्रंश के पूर्वी और पश्चिमी-दो भेद ही, ठोस प्रमाणों के आधार पर किए जा सकते हैं।[3] इनमें से पश्चिमी अपभ्रंश ही परिनिष्ठित अपभ्रंश थी और पूर्वी अपभ्रंश उसकी स्थानीय विभाषा थी। परिनिष्ठित अपभ्रंश का विकास

१—देखिए—डा० नामवरसिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग (न० सं० १९५४) पृ० ३८-४०

२—Bulletin of the School of oriental and African Studies Vol 13-pt, II

३—देखिए—डा० नामवरसिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग (न० सं० १९५४) पृ०—४२

पश्चिमी प्रदेशों की बोली के आधार पर हुआ था और वह ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित थी इसीलिए कुछ विद्वान् इसे शौरसेनी अपभ्रंश भी कहते हैं। हेमचन्द्र ने 'शेष शौरसेनीवत्' लिख कर इसी बात की ओर संकेत किया है। परन्तु शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित होने पर भी पश्चिमी अपभ्रंश में अपनी नई और मौलिक विशेषताएँ भी थीं जिनके आधार पर उसने एक स्वतंत्र भाषा के रूप में अपनी प्रतिष्ठा कर ली थी।

अपभ्रंश की विशेषताएँ

अपभ्रंश की विशेषताओं का अध्ययन उसके ध्वनि-विकारों के रूप में तथा उसकी पद-रचना की विशेषताओं के रूप में किया जा सकता है। अब हम क्रमशः दोनों का अध्ययन करेंगे।

ध्वनि विषयक विशेषताएँ

अपभ्रंश में ध्वनि-विषयक निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं :—

(१) अन्त्य स्वर का ह्रस्वीकरण अथवा कभी-कभी लोप भी अपभ्रंश की महत्वपूर्ण विशेषता है, जैसे—प्रिया>पिअ, संध्या>संझ आदि में ह्रस्वीकरण मिलता है। ह्रस्वीकरण के फलस्वरूप ए>इ हो गया—तुम्हे>तुम्हि। खेत्ति>खेत्ती, उपाध्याय>उज्झा में अन्त्य स्वर का लोप भी मिलता है। इसी प्रकार ह्रस्वीकरण के फलस्वरूप प्रथमा, द्वितीया विभक्ति के ओ को उ हो गया—देवो>देवु इसी प्रकार पंचमी षष्ठी के विभक्ति चिह्न हे>हें, हो>हों हो गए।

(२) उपान्त्य स्वर की रक्षा प्रायः की गई है; जैसे—गोरोचन>गोरोअण, अन्धकार>अन्धआर, पुष्कर>पोक्खर। कहीं-कहीं उपान्त्य स्वर में मात्रा-भेद हो गया है; जैसे ब्रह्मचर्य>बम्भचार, गम्भीर>गुहिर आदि। कहीं-कहीं अन्त्याक्षर में व्यंजन ध्वनि के लोप के कारण उपान्त्य स्वर का संकोच भी मिलता है—इन्द्रिय>इंदिय>इंदि; पुस्तक>पुत्थ।

(३) प्राकृत से प्राप्त शब्दों में प्रायः आदि अक्षर और स्वर की मात्रा सुरक्षित रहती है; जैसे—तडाग>तलाउ, बहुत्व>बहुत्त आदि। कहीं-कहीं आदि स्वर में मात्रिक-भेद (तस्य>तासु) अथवा आदि स्वर-लोप (अरघट्ट>रहट्ट) भी मिलता है, परन्तु ऐसे उदाहरण विरल और अपवाद रूप हैं।

(४) उद्वृत्त स्वरों के विच्छेद (Hiatus) की रक्षा की गई है।

(५) कहीं-कहीं इस विच्छेद के लिए य्, व्, ब्, ह्, र्, का भी आगम हुआ है; जैसे सहकार>सहयार आदि।

(६) सानुनासिकता क्षति पूर्ति के रूप में अथवा अकारण भी पाई जाती है।

(७) कहीं-कहीं स्वर भक्ति, अपनिहित आदि के भी उदाहरण मिलते हैं।

(८) आदि और अनादि स्पर्श व्यंजनों का महाप्राण हो जाता है, जैसे—कीलका>खिल्लियइँ, ज्वल्>झलण आदि।

(९) आदि 'य' प्रायः 'ज्' हो जाता है; जैसे—याति>जाइ, यस्य>जस्स आदि।

(१०) ऋ और र के समीपवर्ती दन्त्य व्यंजनों को मूर्धन्य हो जाते हैं।

(११) ऊष्म व्यंजनों में केवल 'स' ही अपभ्रंश में था; जैसे—शोभा>सोह, शपथ>सवधु आदि।

(१२) प्राकृतों के समान ही अपभ्रंश में 'ड', 'द्', 'न', 'र', के स्थान पर 'ल' मिलता है; जैसे—प्रदीप्त>पलित्त, नवनीत>लोण, दारिद्र्य>दालिद्द आदि।

(१३) 'ब', 'व', के स्थान पर 'म' का प्रयोग मिलता है; जैसे शबर>समर, यावत्>जाम; कहीं-कहीं 'व' के स्थान पर 'ब' भी मिलता है वचन>वअण।

(१४) कहीं-कहीं 'र' का आगम होता है; जैसे—पश्यति>प्रस्सदि, व्यास>व्रास आदि।

(१५) 'म'>'वँ' की प्रवृत्ति अधिक मिलती है; जैसे—कमल>कवँल।

(१६) ष्ण>न्ह हो जाता है, जैसे—कृष्ण>कान्ह। इसी प्रकार स्म>म्ह हो जाता है जैसे अस्मै>अम्ह।

(१७) क्ष>क्ख, ख, (पू० अपभ्रंश), छ, च्छ (प० अप०) हो जाता है जैसे—पक्षी>पाखी (बंगला), पच्छी, पंछी (प० हि०)।

(१८) संयुक्त 'र' का समीकरण हो जाता है, यद्यपि कहीं कहीं वह सुरक्षित भी है, जैसे चक्रवर्ती>चक्कवै, परन्तु ध्रुव>ध्रुव।

(१९) प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार मध्यग 'क', 'त', 'प', 'ख', 'थ', 'फ', सघोष 'ग', 'द', 'ब', 'घ', 'ध', 'भ' हो जाते हैं परन्तु अपभ्रंश में वैकल्पिक रूप से 'क', 'ग', 'च', 'ज', 'त', 'द' का लोप और 'ख', 'घ', 'थ', 'ध', 'फ', 'भ' का 'ह' हो जाता है; जैसे—शपथ>सवधु, आगतः>आगदो, परन्तु सुगज>सुगय और अचेतन>अचेयण आदि।

(२०) व्यंजन विपर्यय; जैसे—दीर्घ>दीहर, हृद>द्रह; व्यंजन द्वित्व; जैसे—काच>कच्च, एक>एक्कु; और क्षतिपूरक सानुनासिकता जैसे वक्र>बंकी आदि के उदाहरण भी अपभ्रंश में पर्याप्त मिलते हैं।

पद रचना विषयक विशेषताएँ

अब अपभ्रंश की पदरचना विषयक विशेषताएँ देखिए

(१) प्रतिपादिकों की विविधता समाप्त हो गई। सभी रूप अकारान्त पुलिंग से प्रभावित होकर बनने लगे।

(२) व्याकरणिक लिंगभेद समाप्त हो गया। नपुंसक लिंग प्रायः लुप्त हो गया।

(३) कारक-विभक्ति-रूपों की तीन श्रेणियाँ हो गईं—एक प्रथमा,

द्वितीया और सम्बोधन की, दूसरी तृतीया और सप्तमी की और तीसरी चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी की। परवर्ती काल में दूसरी और तीसरी श्रेणी का भी प्रायः मिश्रण होने लगा और सामान्य कारक तथा विकारी कारक दो ही का अस्तित्व रह गया।

(४) प्रथमा, द्वितीया में प्रायः निर्विभक्तिक शब्दों का प्रयोग होने लगा। कहीं कहीं प्रथमा पुलिंग एकवचन और प्रथमा, द्वितीया स्त्री लिंग बहुवचन में 'उ' भी मिलता है।

(५) तृतीया-सप्तमी श्रेणी के एकवचन में 'एँ', 'ए', 'ईं', 'इ', 'अहि', 'एँहि', 'एहिँ', 'इए', 'एए' का प्रयोग मिलता है। इनमें भी 'एँ', 'ईं' अधिक प्रचलित थे। बहुवचन में 'हि', 'हिँ' अधिक प्रचलित रहे।

(६) चतुर्थी-पंचमी-षष्ठी समूह के एकवचन में 'ह', 'हे', 'हु', 'हो', और बहुवचन में 'हु', 'हुं', 'हं' का प्रयोग मिलता है।

(७) निर्विभक्तिक पदों और सविभक्तिक घिसे हुए पदों से उत्पन्न गड़बड़ी बचाने के लिए अनेक स्वतंत्र शब्द परसर्ग के रूप में प्रयुक्त होने लगे। तृतीया में 'सहुँ', 'तए' चतुर्थी में 'केहिं', 'रेसि'; पंचमी में 'होन्तउ', 'होन्त', थिउ', षष्ठी में 'केरअ', 'केर', 'कर', 'का', 'की' और सप्तमी में 'मज्झ', 'महँ' का प्रयोग अपभ्रंश में मिलता है।

(८) धातुओं के तिङन्तरूप मुख्यतः लट्, लोट् और लट् लकारों में ही रह गए शेष लकारों के लिए कृदन्तज रूप बनने लगे।

(९) प्राकृत में लट् के रूप प्रायः संस्कृत से मिलते जुलते थे परन्तु अपभ्रंश तक आकर ये घिस गए; जैसे 'कृ' धातु के रूपों को देखिए—

		एकवचन	बहुवचन
उ०	पु०—	करउँ,	करँहु
म०	पु०—	करहि,	करह
अ०	पु०—	करइ	करइँ

(१०) लोट् के रूप 'अ', 'इ', 'उ',–कारान्त हो गए— कर करि, कह ।

(११) लट् में 'स्', 'ह्', दोनों के योग से निष्पन्न रूप मिलते हैं परन्तु 'ह' की प्रधानता है, जैसे— करिसइ, करिहइ ।

(१२) लङ् में 'ज्ज' का प्रयोग मिलता है— 'करिज्जइ' आदि।

(१३) भूतकाल की पद-रचना 'क्त' आदि भूत कृदन्त के प्रत्ययों से होने लगी; जैसे—गम्+क्त=गतः7 गय, गअ । संयुक्त क्रियाओं का भी उपयोग प्रारम्भ हो गया, जैसे—जाउँ गउ, भग्गा एन्तु भज्जिउ जन्ति आदि । इस प्रकार के रूपों की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गई ।

(१४) क्रियार्थक संज्ञा के लिए 'अण' का प्रयोग होने लगा

(१५) पूर्वकालिक क्रिया के लिए 'इ', 'इउ', 'इवि', 'अवि', 'एप्पि', 'एप्पिणु', 'एवि', 'एविणु' आदि का प्रयोग मिलता है परन्तु परवर्ती अपभ्रंश में 'द्दु' को ही अधिक स्थान मिला है ।

उपसंहार

इस प्रकार अपभ्रंश-युग तक मभाआ व्यवहिति-अवस्था की ओर काफी अग्रसर हो चुकी थी । प्राकृत काल से भी अपभ्रंश-काल में यह प्रवृत्ति अधिक विकसित हुई । अपभ्रंश में शब्दरूप अत्यधिक सरल हो गए, धातुरूपों की विविधता समाप्त हो गई, घिसे हुए रूपों तथा निर्विभक्तिक-पदों के लिए परसर्गों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया और तद्भव तथा देशज शब्दों को अपना लेने के कारण अपभ्रंशका शब्दकोष भी बहुत विस्तृत हो गया । संक्षेप में इन्हीं विशेषताओं को लेकर प्रभाआ[1] से मभाआ का विकास हुआ और धीरे-धीरे

---

१ प्रभाआ—प्रथम भारतीय आर्यभाषा अर्थात् प्राचीन वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत के विकास तक की भाषाएँ ।

मभाआ से नभाआ[1] का उदय हुआ। अपभ्रंश के साहित्यिक भाषा बन जाने के उपरान्त भी लोक भाषा निरन्तर विकसित होती रही और इसी विकास के फलस्वरूप नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का उदय और विकास हुआ है। इस विकास का इतिहास हम अगले अध्याय में देखेंगे।

---

१ नभाआ—नव्य भारतीय आर्यभाषा।

चौथा प्रकरण

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ

आधुनिक भाषाओं का उदय

अवहट्ठ का उदय और अध्ययन सामग्री

लोक भाषा के रूप में अपभ्रंश का प्रयोग उठ जाने तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के स्वरूप-ग्रहण के बीच का युग भारतीय आर्यभाषाओं के विकास में संक्रान्तिकाल कहा जाता है। इस युग का वैज्ञानिक तथा भाषा-शास्त्रीय अनुशीलन न हो सकने के कारण इसका इतिहास बड़ा अस्पष्ट और उलझा हुआ है। अपभ्रंश का लोकभाषा के रूप में प्रयोग प्रायः बारहवीं शती तक उठ चुका था, यद्यपि साहित्यिक भाषा के रूप में उसका प्रयोग इसके बाद भी किया जाता रहा। हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न ग्राम्य भाषा का उल्लेख किया है। उनकी 'देशीनाममाला' में भी ऐसे शब्दों का उल्लेख मिलता है जिनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय तक देशी भाषा आगे बढ़ गई थी। बारहवीं शती के पूर्वार्ध के अन्तिम दशक से ही हमें उस साहित्य की उपलब्धि होने लगती है, जिसके आधार पर हम संक्रान्ति कालीन भाषा-विकास का अध्ययन करते हैं। यह संक्रान्तिकाल प्रायः पन्द्रहवीं शती तक चलता है, जब कि अपभ्रंश की छाप से रहित आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में लिखित सामग्री मिलने लगती है। संक्रान्ति काल के प्रमुख ग्रंथ इस प्रकार हैं–'संनेहय रासक' (सन्देशक-रासक), प्राकृत पैंगलम्, पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह, उक्तिव्यक्त प्रकरण वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता, चर्यापद, ज्ञानेश्वरी तथा कुछ जैनी 'रास'

तथा 'फागु' ग्रंथ । इस सामग्री में से 'संनेहय रासक', प्राकृत पैंगलम् और पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह के कुछ अंशों में पश्चिमी जन-भाषा के, उक्तिव्यक्ति प्रकरणम् में मध्यदेशीय जन-भाषा के, वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता एवं चर्यापदों में पूर्वी जनभाषा के तथा ज्ञानेश्वरी में महाराष्ट्र-देशीय जन-भाषा के स्वरूप का ज्ञान होता है। यह सभी साहित्य बारहवीं शती से पन्द्रहवीं शती तक का लिखा हुआ है।

अवहट्ठ का नामकरण

संक्रान्तिकालीन भाषा के लिए बहुत से नामकरण दिए गए हैं जिनमें परवर्ती अपभ्रंश, अवहट्ठ, देशी भाषा, पुरानी हिन्दी आदि-प्रमुख हैं। इनमें से अवहट्ठ नाम का उल्लेख तो स्वयं संक्रान्तिकालीन कवियों ने भी किया है। संदेश-रासक में अब्दुल-रहमान ने कहा है—

अवहट्ठ सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमिभाषाए।
लक्खणछन्दाहरणे सुकइतं भूसियं जेहि ॥ संनेहय रासक, ६।

प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार ने उसकी भाषा को अवहट्ठ बताया है।[1] विद्यापति ने इसे स्पष्ट रूप से 'देसिल बअना' बताया है—

'देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तं तैसन जम्पजो अवहट्ठा।[2]

इसी प्रकार ज्योतिरीश्वर के वर्णरत्नाकर में भी इसका उल्लेख मिलता है—

'पुनु कइसन भाटु, संस्कृत, पराकृत, अवहट्ठ, पैशाची, शौरसेनी, मागधी, छहु भाषा तत्वज्ञ·····।'[3]

१—'पढमं भास तरंडो, गाओ सो पिंगलो जअई।' (१ गाहा)

टीका—प्रथमो भाषातरंडः प्रथम आद्यः भाषा अवहट्ठ भाषा, यया भाषया अयं ग्रंथो रचितः स अवहट्ठ भाषा।

प्राकृत पैंगलम्।

२. कीर्तिलता १—२१।२२।

३. वर्णरत्नाकर ५५।ख।

आधुनिक विद्वानों ने भी अधिकांशतः इस संक्रान्ति कालीन भाषा को अवहट्ठ कहना ही पसन्द किया है। यद्यपि गुलेरी जी इसे पुरानी हिन्दी[1] कहना चाहते हैं और नामवर सिंह परवर्ती अपभ्रंश,[2] परन्तु इस संक्रान्ति कालीन भाषा के लिए अवहट्ठ नाम ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

अवहट्ठ के प्रांतीय विभेद

संक्रान्तिकाल में अवहट्ठ का प्रसार सिन्ध और मुल्तान से बंगाल तक तथा कन्नौज से मान्यखेट तक हो गया था। वास्तव में यह प्रदेश अवहट्ठ को उत्तराधिकार में अपभ्रंश से मिला था। विस्तृत क्षेत्र में फैले होने के कारण अपभ्रंश में दो स्थानीय भेद हो गए थे। अवहट्ठकाल की भाषाओं में स्थानीय बिशेषताएँ और अधिक उभर आईं और चौदहवीं शती तक यह इतना गहरा हो गया कि स्थानीय विभेदों के ही सहारे स्वतंत्र बोलियों ने अपना-अपना रूप धारण किया। अवहट्ठकाल में भाषा के तीन रूप स्थानीय भेदों के आधार पर पाए जाते हैं—(१) पूर्वी अवहट्ठ—इसका प्रतिनिधित्व वर्णरत्नाकर कीर्तिलता, कीर्ति पताका और चर्यापद करते हैं। (२) मध्यवर्ती अवहट्ठ—इसका प्रतिनिधित्व उक्ति व्यक्ति प्रकरणम् ग्रंथ करता है। (३) पश्चिमी अवहट्ठ—इसका प्रतिनिधित्व संनेहय रासक, प्राकृत पैंगलम् करते हैं। इनके अतिरिक्त इसी पश्चिमी बोली के परवर्ती दक्षिणी रूप की जानकारी ज्ञानेश्वरी से होती है।

१—ध्वनि विषयक विशेषताएँ

अब हम अवहट्ठ की भाषागत विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। पहले ध्वनि विषयक विशेषताएँ देखिए—

---

१. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी पृष्ठ ९२-१३।

२. डॉ० नामवर सिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग —पृष्ठ ५३।

(१) पूर्व स्वर पर आघात—संयुक्त व्यंजन या व्यंजनद्वित्व के स्थान पर एक व्यंजन को हटाकर उसके स्थान पर पूर्ववर्ती स्वर का दीर्घीकरण किया जाता है। इसे तेस्सितोरी ने अवहट्ट की प्रमुख विशेषता माना है।[1] उदाहरण देखिए—तस्य > तस्स>तासु, कार्य > कज्ज > काज, नृत्यति > नच्चइ > नाचइ, मित्र > मित्त > मीत आदि। कभी-कभी व्यंजनद्वित्व का सरली करण तो मिलता है, परन्तु क्षतिपूरक दीर्घीकरण नहीं मिलता; जैसे—राजपुत्र > राउत्त > राउत, आत्मनः > अप्पण < अपन।

(२) मभाआ काल के अनुस्वार जो प्रा० भा० आ० युग की सानुनासिकता के स्थानापन्न थे, अवहट्ट में ह्रस्व किए गए और क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्त्ती स्वर दीर्घ हो गया। जैसे—अञ्चल>आँचर, चन्द्र>चाँद, कण्टक>काँटा आदि।

(३) कहीं कहीं अकारण ही सानुनासिकता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है; जैसे उपवास>उपाँस, अश्रु>अंसु, दुज्जन>दूँजणे आदि।

(४) अवहट्ट में उद्वृत स्वरों के स्थान पर संयुक्त स्वरों का प्रयोग मिलता है। प्राकृत में तो उद्वृत स्वर के बीच 'य' 'व' की श्रुति का विधान था और अपभ्रंश में भी संयुक्त स्वर नहीं मिलते परन्तु अवहट्ट में 'ए' 'ऐ' और औ का प्रयोग मिलता है; जैसे—भूत्वा> भइ>भै, बोलति>बोलइ>बोलै, भूपति>भुववइ>भुववै आदि, और चतुष्क>चउक्क>चौक, कपर्दिका>कउडि>कौडि आदि।

(५) अवहट्ट में क, ग, च, ज, त, द, प, ब, य, व के लोप से उत्पन्न उद्वृत स्वरों का कहीं कहीं संयुक्त स्वर नहीं बनता वरन् समी-

---

१. "अपभ्रंश की तुलना में यह न० भा० आ० की स्पष्टतः लक्षित होने वाली प्रमुख विशेषता मानी जा सकती है। पुरानी राजस्थानी—तेस्सितोरी-अनुवादक नामवर सिंह-पृष्ठ ७।

करण या संधि हो जाती है; जैसे—अन्धकार>अन्धआर>अन्धार, उत्तिष्ठ>उइट्ठ>उंठ; मयूर>मऊर>मोर।

(६) कहीं कहीं अकारण व्यंजन द्वित्व भी बनाया जाता है; जैसे—कमान>कम्माण, दुकान>दोक्काण, परवश>परव्वश आदि। यह प्रवृत्ति पश्चिमी अवहट्ठ में अधिक मिलती है और तदुपरान्त डिंगल ने ग्रहण की है।

२ रूप-निर्माण विषयक विशेषताएँ

अवहट्ठ काल में उपर्युक्त ध्वनि विषयक विकास तो हुए ही, रूप-निर्माण में भी प्रवृत्ति सरलीकरण ही की ओर रही। अपभ्रंश युग के अन्त तक विभक्तियाँ प्रायः घिस गई थीं, अब अवहट्ठ में उनके स्थान पर परसर्गों का प्रयोग बढ़ा और निर्विभक्तिक प्रयोग भी प्रारम्भ हो गए। सर्वनाम रूपों में भी बड़ा विकास हुआ और क्रिया रूपों में तो अवहट्ठ नभाआ के ढाँचे के बिलकुल समीप ही आ गई। क्रिया-पद संयोगात्मक के स्थान पर वियोगात्मक हो गए और संयुक्त तथा अप्रधान क्रिया-पदों का उपयोग भी पर्याप्त होने लगा। संक्षेपतः इन विशेषताओं को हम इस प्रकार देख सकते हैं—

(१) अवहट्ठ में विभक्तियों के लुप्त हो जाने के कारण निर्विभक्तिक प्रयोग होने लगे। पूर्व निपातादि नियमों के अभाव में इससे कभी-कभी बड़ी गड़बड़ी की सम्भावना रहती थी और इसीलिए प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार ने कहा है कि "अवहट्ठ भाषायां पूर्व निपातादिनियमाभावात् यथोचित योजनाकार्या सर्वत्रेति बोध्यम्।"[1]

(२) अवहट्ठ में, विशेषतः पूर्वी विभाषा में, कारक चिन्ह के रूप में चन्द्रविन्दु का प्रयोग मिलता है। इसका प्रयोग अधिकतर अधिकरण और करण के लिए हुआ है, वैसे अन्य कारकों के लिए किए

---

१ प्राकृत पैंगलम्—टीका (टीकाकार-वंशीधर)—पृष्ठ ४७८

गए प्रयोगों के भी उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण देखिए—'सेवाँ वइसलि छति', (अधिकरण प्रयोग), 'तुम्हें खग्गो रिउँ दलिअ' (कर्म प्रयोग) आगे चलकर अवधी-ब्रज में भी इसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ है।

(३) अवहट्ठ में पदों के निर्विभक्तिक हो जाने के कारण उत्पन्न होने वाली अस्पष्टता को दूर करने के लिए परसर्गों के प्रयोग की प्रवृत्ति प्रधान है। यद्यपि परसर्गों का कुछ प्रयोग अपभ्रंश में ही होने लगा था, परन्तु अवहट्ठ में इनका प्रयोग प्रचुरता से होने लगा। अवहट्ठ के प्रधान परसर्ग निम्न हैं—

(अ) कर्त्ता कारक—एन्ने, (जेन्ने जाचक जन रंजिअ), एन्हे (जेन्हे सरण परिहरिअ)।

(आ) करण कारक—सन>समम्, (कायेसर सन राय)। इसके अतिरिक्त सहुँ, सजो, सउँ, से आदि भी प्रयुक्त हुए हैं।

(इ) सम्प्रदान कारक—लागि (तब मन करे तेसरा लागि), कारण, (वीर जुज्झ देक्खइ कारण), काज (सामि काज संगरे) और कँह।

(ई) अपादान कारक—हुत, हुन्तें के अतिरिक्त करण कारक वाले परसर्ग सउँ, सजो भी प्रयुक्त हुए हैं।

(उ) सम्बोधन कारक—केरएँ, केरा (केरी), कद, कइ, क, का, की, के, को, आदि।

(ऊ) अधिकरण कारक—माँझ, मँह, मँहि, मैं, भीतर, पर, पै, ऊपर, उप्परि आदि।

(४) अवहट्ठ में कहीं कहीं निर्विभक्तिक पदों के अतिरिक्त विकारी कारकों में बहुवचन के साथ 'न्हि' विभक्ति भी जुड़ती है और तद्-

परान्त परसर्ग लगाए जाते हैं; जैसे—युवराजन्हि माँझ, युवतिन्ह का उत्कण्ठा आदि।

(५) अवहट्ट में सर्वनामों के प्रयोग निम्न हैं—(अ)—उत्तम पुरुष में हजो, हौं, मो, मोहि, मोर, मोरा, और मध्यम पुरुष में तुम, तुम्ह, तोहि, तोके, तोर, तोहार, तैं मिलते हैं। (आ)—दूरवर्ती निश्चय में ओ, ओके, ओकरा, ओहु आदि और समीपवर्ती निश्चय में ई, एहु, एही, एहि, एन्ह, ए आदि (इ) निजवाचक में अप्प, आपु, अप्पह, अपने, आपणे, आपनु आदि।

(६) अवहट्ट में क्रिया-पदों के निर्माण का ढाँचा नभाआ के बहुत सन्निकट दिखाई पड़ता है। इस युग में क्रिया-पद वियोगात्मक हो गए। कृदन्तों के सहारे क्रियापदों का निर्माण होने लगा, संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बढ़ गया और सहायक क्रियाओं के प्रयोग में प्रचुरता आ गई। इसके अतिरिक्त इस युग में दुहरी पूर्वकालिक क्रियाओं के प्रयोग भी मिलते हैं (उदाहरण—आपहिं रहि रहि आवन्ता—कीर्तिलता और विरहहुयासि दहेविकरि आता जल सिंचेइ—संनेहय रासक)।

३—वाक्य-विन्यास का विकास

वाक्य-विन्यास पर भी अवहट्ट में अधिक महत्व दिया जाने लगा। लुप्त-विभक्तिक और निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग के कारण वाक्य में पदों का स्थान निश्चित हो गया और 'कर्ता-कर्म-क्रिया' का क्रम बरता जाने लगा। संयुक्त क्रियाओं, तथा सहायक क्रियाओं के प्रयोग के कारण भी वाक्य-विन्यास में निश्चितता का विकास हुआ।

(४) शब्द-भांडार

अवहट्ट के शब्द समूह में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है। अपभ्रंश में प्राप्त शब्द-भंडार की थाती की रक्षा करते

हुए भी अवहट्ठ में विदेशी शब्द पर्याप्त मात्रा में आने लगे; जैसे नीक, तुरुक, तहसील, हुद्दादार आदि। इन शब्दों को अवहट्ठ ने अपनी प्रकृति के अनुसार ग्रहण किया और माँजा है। इसके अतिरिक्त तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। तीसरे प्रकार के शब्द देशी शब्द हैं। अवहट्ठ को तो कवियों ने स्वयं 'देसिल बअना' कहा है और इसीलिए देशी शब्दों को स्वच्छन्दता के साथ ग्रहण किया है। इस प्रकार अवहट्ठ का शब्द भंडार भी बहुत वैविध्यपूर्ण और विशाल हो गया है।

अवहट्ठ से आधुनिक आर्य भाषाओं का उदय और विकास

अवहट्ठ-युग के समाप्त प्राय होने के समय अवहट्ठ में अतिशय देश-भेद की प्रकृति ने बड़ा बल पाया और शीघ्र ही बंगला, गुजराती, मराठी आदि स्वतंत्र भाषाओं का स्वरूप निर्मित हो गया। विभिन्न भाषाओं का यह स्वतंत्र विकास ऊपरी तौर से देखने में तो बड़ा आकस्मिक प्रतीत होता है परन्तु ऐसी बात है नहीं। भाषा के विकास में आकस्मिक कुछ नहीं होता और न यहाँ ही हुआ है। वस्तुतः इन भेदों के लिए दो प्रकार के कारण उत्तरदायी हैं—एक तो भाषागत कारण और दूसरे ऐतिहासिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ। अपभ्रंश भाषाओं के जनता में अप्रचलित हो जाने के बाद अवहट्ठ-युग में भाषा के क्षेत्र में, विशेषतः रूप-निर्माण तथा शब्द-भंडार की दृष्टि से, बहुत से नये तथ्य विकसित हुए। क्रमशः प्राचीन रूपों के ह्रास तथा नए रूपों के विकास की प्रक्रिया ही नभाआ के विकास की कहानी है। ये नए रूप निश्चय ही प्रादेशिक जन-भाषाओं से आये और जन भाषा में स्वतंत्र विकास पाते रहे। चौदहवीं शती के उत्तरार्ध के आसपास वाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से ये विकसित प्रादेशिक जन-भाषाएँ सामने उभर आईं और इन्होंने स्वतंत्र भाषाओं और बोलियों के रूप में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इस प्रकार भाषा

के क्षेत्र में धीरे-धीरे आने वाले नए तथ्यों ने वाह्य परिस्थितियों से बल पाकर नई और संगठित जनपदीय भाषाओं को विकास प्रदान किया।

बंगला, गुजराती मराठी और सिन्धी का विकास

साहित्यिक भाषाओं के रूप में बंगला, गुजराती तथा मराठी सब से पहले सामने आईं। इन तीन भाषाओं के जनपदों का संगठन एक स्वतंत्र इकाइयों के रूप में प्रायः दसवीं शताब्दी से ही हो रहा था। बंगाल के पाल, गुजरात के सोलंकी तथा देवगिरी के यादवों के शासन काल में ही ये जनपद राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से केन्द्र से अलग होकर स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगे थे। इन प्रदेशों के राजाओं ने इसीलिए संस्कृत के स्थान पर जन-भाषाओं को बराबर प्रोत्साहन भी दिया और इसप्रकार जन-पदीय बोलियों से साहित्यिक भाषाओं का विकास यहीं सबसे पहले हुआ। इसके अलावा गुजराती के विकास में वाणिज्य-व्यवस्था ने तथा मराठी के विकास में धार्मिक आन्दोलनों ने विशेष योग दिया। बंगला के विकास में वाणिज्य और धार्मिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलन—दोनों का प्रमुख हाथ रहा है। इन्हीं के साथ-साथ सिन्धी का विकास भी हुआ है। सिन्धी के विकास में भी वाणिज्य का पुनरुत्थान मुख्य कारण है।

मध्यदेशीयभाषा का विकास—मैथिली और राजस्थानी

मध्यदेशीय भाषा का भी विकास इस युग में हुआ परन्तु परि-स्थिति वश भिन्न प्रकार से। मध्यदेश के चारों ओर तो साहित्यिक भाषाएँ विकसित हुईं परन्तु यहाँ पर साहित्यिक भाषा या भाषाओं का उदय न हो सका। यहाँ पर क्षेत्रीय बोलियों का विकास हुआ जो धीरे-धीरे साहित्यिक उपयोग में आईं। ऐतिहासिक दृष्टि से राजस्थानी

और मैथिली का विकास पहले हुआ। मैथिली के पहले विकसित होने का रहस्य भी मिथिला का एक स्वतंत्र शासकीय इकाई के रूप में एक ही राजवंश के अन्तर्गत रहना है। ज्योतिरीश्वर, विद्यापति आदि के युग में मैथिली का अच्छा विकास हुआ परन्तु यह गति सत्रवहीं शती तक बड़ी मन्द पड़ गई और अब मैथिली की सत्ता बिहारी की एक बोली के रूप में है। राजस्थानी का इतिहास कुछ विचित्र रहा है। राजस्थान का पश्चिमी भाग इस युग में गुजरात के साथ शासकीय दृष्टि से संबद्ध रहा और पूर्वी भाग दिल्ली के शासन के साथ। इसी-लिए पुरानी गुजराती और पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में बड़ी समानता दिखाई पड़ती है।[१] डा० तेस्सितोरी तो इन दोनों को एक ही संयुक्त नाम 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी' देने के पक्ष में हैं।[२] कालान्तर में इसी प्रा० प० राजस्थानी से आधुनिक गुजराती और मारवाड़ी का विकास हुआ और आर्थिक तथा व्यपारिक कारणों से आज मारवाड़ी ही राजस्थानी का प्रतिनिधित्व करती है। पूर्वी राजस्थानी बोलियों पर प्राचीन पिंगल का प्रारम्भ में बड़ा प्रभाव रहा है। डा० तेस्सितोरी का विचार है कि प्रा० प० राजस्थानी और पश्चिमी हिन्दी के बीच कुछ मध्यवर्ती मिश्रित बोलियां रहीं है और इन्हें ही वे प्राचीन पूर्वी राजस्थानी की बोलियाँ—जो आजकल जयपुरी कहलाती हैं—मानते हैं।[३] कालान्तर में गुजराती से राजस्थानी के पृथक् हो जाने पर और मारवाड़ी के प्रमुख बोली के रूप में विकसित होने पर पूर्वी

१—देखिए—Linguistic Survey of India Vol. IX Part II page 15—

२—डा० तेस्सितोरी—पुरानी राजस्थानी—(हिन्दी अनुवादक—डा० नामवरसिंह) पृष्ठ ३-८

३. डा० तेस्सितोरी—पुरानी राजस्थानी (हिन्दी अनुवादक—डा० नामवर सिंह) पृष्ठ ६ और ७।

राजस्थानी की बोलियों से उसका घनिष्ठ संबन्ध और आदान प्रदान हुआ और आजकल राजस्थानी का परिनिष्ठित बोली मारवाड़ी ही है तथा जयपुरी आदि उसकी बोलियाँ हैं।

हिन्दी की बोलियों का विकास

जैसा पहले कहा जा चुका है हिन्दी-भाषी प्रदेश में प्रादेशिक बोलियों का विकास हुआ। इनमें खड़ी बोली, ब्रज और अवधी प्रमुख हैं। ये तीनों बोलियाँ अलग अलग रहते हुए भी निरन्तर एक जातीय भाषा के रूप में विकसित होने के लिए प्रयास करती रही हैं। ब्रजभाषा और खड़ी बोली यद्यपि समानान्तर विकसित हुई हैं परन्तु आधुनिक युग के पूर्व खड़ी बोली को साहित्यिक स्थान न मिल पाया। इसके कई कारण थे—प्रथम तो उसे अपने शैशव में ही दक्षिणी भारत में चला जाना पड़ा; दूसरे, यह विदेशी भाषा-भाषियों के साथ पड़ जाने के कारण हिन्दू सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अनुपयुक्त समझी गई; तीसरे यह विदेशी धर्म-प्रचार का साधन बन जाने के कारण हिन्दू समाज को ग्राह्य न हुई और चौथे, यह जन-सम्पर्क से अलग राजदरबारों, नगरों तथा अन्तःपुरों में बँध गई। इसीलिए इसके साहित्यिक विकास का इतिहास मुख्यतः पिछले सौ वर्ष का ही है। ब्रजभाषा का साहित्यिक क्षेत्र में पन्द्रहवीं से उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ तक बराबर प्रचार रहा। यह भाषा अपने जन्म स्थान ब्रज में ही रही और विकसित हुई, इसे संस्कृत की विशाल और गौरवपूर्ण सांस्कृतिक निधि का दाय मिला और वैष्णव भक्तों के साथ यह सम्पूर्ण मध्यदेश के लोक-हृदय की प्रेयसी बन गई। यहाँ तक कि पंजाबी के उदय में इसका बहुत बड़ा प्रभाव रहा और नानक आदि संतों ने ब्रज से बहुत कुछ अपनाया। अवधी का इतिहास ब्रज से समझौता करके चलने का इतिहास है। जन-समाज में विकसित होते-होते इसे तुलसी के मानस

में पूर्ण साहित्यिक भाषा का रूप मिला, जिसमें यह भारतीय आदर्शों की एकमात्र वाहिनी बनी और उसके बाद साहित्यिक क्षेत्र में तो इसने ब्रज से मिलकर उसके उत्थान और प्रसार में योग दिया परन्तु लोक-भाषा के रूप में आज भी यह अवध प्रदेश की बोली है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि चौदहवीं शती के उत्तरार्ध तथा पन्द्रहवीं शती के पूर्वार्ध में अवहट्ठ से आधुनिक आर्यभाषाओं का स्वतंत्र स्वरूप विकसित हो गया और इसके विकास में भाषागत कारणों के अतिरिक्त बाह्य परिस्थितियों ने कितना महत्वपूर्ण योग दिया। उस समय से आज तक ये भाषाएँ अपनी अपनी स्वतंत्र साहित्यिक शोभा और श्री से निरन्तर मण्डित होती चली आ रही हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण

डा० ग्रियर्सन का वर्गीकरण

डा० हार्नले ने अपने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन के फलस्वरूप सन् १८८० में यह प्रतिपादित किया कि भारतवर्ष में आर्य लोग दो दलों में आए। पूर्वागत आर्य पहले आकर भारतवर्ष के सप्तसिन्धु और मध्यदेश में बस गए थे। उसके बाद आर्यों का एक दूसरा दल काबुल नदी के मार्ग से गिलगिट, चित्राल होता हुआ आया। इन नवागत आर्यों ने आकर पूर्वागत आर्यों को परास्त किया और उन्हें सप्तसिन्धु के पूर्वी भाग और मध्यदेश से खदेड़ कर बाहर कर दिया। हारे हुए पूर्वागत आर्य सुदूर पूर्व, दक्षिण और उत्तर पश्चिम में फैल गए। आर्यों की इन दोनों शाखाओं की भाषाओं में इस प्रकार के निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं, यह भी हार्नले ने संकेत किया। हार्नले के इस

सिद्धान्त का समर्थन डा० ग्रियर्सन ने लिंग्विस्टिक सर्वे भाग १ खण्ड १ पृष्ट ११६ में किया और इसके बाद सन् १६३० में डा० ग्रियर्सन ने अपने सिद्धान्त का, कुछ संशोधनों के साथ, पुनः प्रतिपादन बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरियण्टल स्टडीज़, लण्डन के भाग १ खण्ड ३ पृष्ठ ३२ में किया। यह परवर्ती लेख अधिक विस्तृत और सोदाहरण है। डा० ग्रियर्सन ने सिद्ध किया है कि इस अन्तरङ्ग और बहिरंग शाखाओं के विभाजन का आधार दोनों समूहों की भाषाओं के ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणिक अन्तर हैं। उनका विभाजन इस प्रकार है[1]—

[क] बहिरंग या बाहरी उपशाखा—(१) उत्तर-पश्चिमी वर्ग—लहंदा, सिन्धी।
(२) दक्षिणी वर्ग—मराठी।
(३) पूर्वी वर्ग—बंगला, आसामी, उड़िया, बिहारी।

[ख] मध्य उपशाखा— पूर्वी हिन्दी।

[ग] अन्तरंग या भीतरी उपशाखा—केन्द्रीय वर्ग—पश्चिमी हिन्दी, गुजराती, भीली, खानदेशी, राजस्थानी, पंजाबी।
पहाड़ी वर्ग—पूर्वी पहाड़ी या नेपाली, मध्य-पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी।

सन् १६३० के 'बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियण्टल स्टडीज़

---

१. डा० ग्रियर्सन—लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया—भाग १ खण्ड १—पृष्ठ १२०

के भाग १ खण्ड ३ में प्रकाशित अपने लेख में उन्होंने इसमें कुछ संशोधन कर लिए। संशोधित वर्गीकरण इस प्रकार है—

[क] बहिरंग या बाहरी उपशाखा— (१) उत्तर-पश्चिमी वर्ग-सिन्धी, लहंदा।
(२) दक्षिणी वर्ग—मराठी
(३) पूर्वी वर्ग—बंगला, आसामी, उड़िया, बिहारी।

[ख] मध्यदेशीय उपशाखा—हिन्दी

[ग] अन्तरङ्ग या भीतरी उपशाखा— (१) बहिरङ्ग भाषाओं से अधिक संबद्ध—पूर्वी हिन्दी
(२) मध्यदेशीय भाषा से अधिक संबद्ध—पंजाबी राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी या नैपाली, केन्द्रीय पहाड़ी और पश्चिमी पहाड़ी।

डा० ग्रियर्सन के वर्गीकरण के आधार—डा० चाटुर्ज्या द्वारा उनकी आलोचना

डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने डा० ग्रियर्सन के द्वारा किए गए इस वर्गीकरण की आलोचना की है[1] और उनके उनसभी ध्वन्यात्मक या व्याकरणिक अन्तरों को अपर्याप्त और अपूर्ण ठहराया है, जिनपर ग्रियर्सन का वर्गीकरण आधारित था। डा० ग्रियर्सन

1. Dr. S. K. Chatterjee origin and Development of Bengali Language—Appnedix A—Page 150-159.

द्वारा दिए गए तर्कों और डा० चाटुर्ज्या द्वारा की गई उनकी आलोचनाओं का सार निम्न है—

ध्वनि सम्बन्धी आधार

(१) (डा० ग्रियर्सन)—बहिरंग उपशाखा की पश्चिमोत्तरी तथा पूर्वी भाषाओं में अन्तिम स्वर 'इ', 'ए', तथा 'उ' वर्तमान है परन्तु अन्तरङ्ग में लुप्त हो चुके हैं जैसे-अवि (काश्मीरी) अरिछ (सिंधी) परन्तु आँख (हिन्दी)।

(डा० चाटुर्ज्या)—सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में अन्तिम स्वर थे और धीरे धीरे लुप्त हो गए हैं। यह लोप की प्रक्रिया अन्तरङ्ग भाषाओं (हिन्दी आदि) में घटित हो चुकी है और अन्य में हो रही है। अन्तरङ्ग में ब्रज, अवधी आदि में अन्त्य स्वर 'उ', 'इ' थे और ब्रज, कन्नौजी तथा अवधी में आज भी बोले जाते हैं, जैसे—सबु, भालु, बाँदु (ब्रजशब्द) साँचु, झुठु, दिनु, हाथु आदि (अवधी)। अतएव यह वर्गीकरण का युक्ति-युक्त आधार नहीं हो सकता।

(२) (डा० ग्रियर्सन)— बहिरंग भाषाओं में, विशेषतः बंगला में इ > ए और उ > ओ हो जाता है।

(डा० चाटुर्ज्या)—पूर्वी भाषाओं, विशेषतः बंगला, में 'इ' 'उ' के शिथिल स्वर होने के कारण जिह्वा इनके उच्चारण में जब ऊपर तक नहीं उठती तो 'ए', 'ओ' की ध्वनि सुनाई पड़ती है। प्राकृत काल में भी दो व्यंजनों के बीच यह परिवर्तन होता था, यथा—पुष्कर > पोक्खर। अन्तरंग भाषाओं में पश्चिमी हिन्दी की बोली ब्रज में भी 'मोहि-मुहि', 'तोहि-तुहि' शब्द मिलते हैं। अतः यह भी एक आधार नहीं बनाया जा सकता।

(३) (डा० ग्रियर्सन)—बहिरंग भाषाओं में—विशेषतः पूर्वी भाषाओं में 'उ'>'इ' भी मिलता है। (डा० चाटुर्ज्या)—यह परि-

वर्तन पश्चिमी हिन्दी में भी पाया जाता है; जैसे क्षुल्ल-अङ्गुलिका> छुँगुली>छिँगुली (छिँगुरी)। इसके अलावा ऐसे उदाहरण भी हैं जहाँ संस्कृत 'अ' बंगला में 'उ' ही बना है परन्तु प० हिन्दी में 'इ' हो गया है, जैसे—गुनना (बंगला) के लिए गिनना (हिन्दी)। अतएव यह आधार भी उपयुक्त नहीं है।

(४) (डा० ग्रियर्सन) अइ>ऐ और अउ> औ से आए ऐ, औ बहिरंग उपशाखा की पूर्वी बोलियों में विवृत 'ए' तथा 'ओ' हो गए हैं।

(डा० चाटुर्ज्या)—'ए' 'ओ' का विवृत उच्चारण पूर्वी बोलियों के अतिरिक्त पश्चिमोत्तरी भाषाओं (सिंधी, लहंदा आदि) में तो है ही, प० हिन्दी में भी मिलता है।

(५) (डा० ग्रियर्सन)—अपनिहिति बहिरंग भाषाओं की एक विशेषता है। यह उड़िया, बंगला, आसामी के अतिरिक्त पश्चिमोत्तरी भाषाओं में भी है।

(डा० चाटुर्ज्या)—बहिरंग भाषाओं में मराठी तथा सिन्धी में इसका अभाव है परन्तु अन्तरंग भाषा गुजराती में यह है। वास्तव में बंगला में अपनिहित मध्ययुग का विकास है। प्राचीन बंगला में यह न थी। इसी प्रकार काश्मीरी, लहंदा में भी यह परवर्ती युग का ही विकास है। अतएव यह आधार भी अनुपयुक्त है।

(६) (डा० ग्रियर्सन)—बहिरंग भाषाओं में म्ब् > म् मिलता है और अन्तरंग में म्ब् > ब्। (डा० चाटुर्ज्या) म्ब् > म् के उदाहरण पश्चिमी हिन्दी में भी मिलते हैं जैसे निम्ब>नीम, जम्बु>जामुन आदि और म्ब् > ब् के उदाहरण बँगला में प्राप्त हैं; जैसे—आँब, ताँबा आदि।

(७) (डा० ग्रियर्सन)—स्वर मध्यग र् का बहिरंग भाषाओं में लोप हो गया है परन्तु अन्तरंग में अभी यह वर्तमान है।

(डा० चाटुर्ज्या)—स्थिति इसके विपरीत है। पश्चिमी हिन्दी में

अरु > औ, परि > पर > पै आदि में र् का लोप मिलता है और बंगला 'ऊपर' में र् विद्यमान है।

(८) (डा० ग्रियर्सन)—बहिरंग उपशाखा की पूर्वी और पश्चिमी भाषाओं में 'द्', 'ड्' का व्यत्यय हुआ है परन्तु अन्तरंग भाषाओं में ऐसा नहीं है।

(डा० चाटुर्ज्या)—ब्रज में ऐसे उदाहरण हैं जिनसे उसमें 'द्' 'ड' के व्यत्यय का पता लगता है, जैसे दृष्टि > डीठि। आधुनिक हिन्दी के डाढ़ी < दंष्ट्रिका, डँसना < दंश् आदि शब्द भी मिलते हैं।

(९) (डा० ग्रियर्सन)—'र्' 'ल्' तथा 'ड' 'ड़' के उच्चारण का अन्तर भी वर्गीकरण का आधार है।

(डा० चाटुर्ज्या)—ल् के स्थान पर र् और ड़ के स्थान पर र प० हिन्दी में भी मिलता है; जैसे किवाड़>किवार, जलै>जरै, बिजली बिजुरी आदि।

(१०) (डा० ग्रियर्सन)—संस्कृत के 'च्' 'ज्' बहिरंग उपशाखा की पूर्वी भाषाओं में त्स् (स्) और द्ज़् (ज़्) के रूप में परिवर्तित हो गए हैं।

(डा० चाटुर्ज्या) यह परिवर्तन केवल पूर्वी-बंगला तथा आसामी में मिलता है, बिहारी, पश्चिमी बंगला में नहीं मिलता। आसामी तथा पूर्वी बँगला में यह तिब्बती-बर्मी तथा अन्य पर्वतीय भाषाओं के कारण हुआ है। साथ ही आसामी तथा पूर्वी बंगला में 'च्' 'ज्' ध्वनियाँ भी मिलती हैं। दक्षिणी उड़िया के दन्त्यीकरण पर तेलुगु का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके अलावा स्वयं डा० ग्रियर्सन का विचार है कि प्राकृत युग में संस्कृत के 'च्' 'ज्' महाराष्ट्री तथा शौरसेनी में 'त्स्', 'द्ज़् हो गए थे और हिन्दी में वे पुनः परिवर्तित होकर 'च्' 'ज्' हुए हैं। अतएव यह तर्क भी उपयुक्त नहीं है।

(११) (डा० ग्रियर्सन)—ऊष्म व्यंजनों (श् ष् स्) का उच्चारण

भी वर्गीकरण का एक महत्वपूर्ण आधार है। प्राचीन मागधी में और आधुनिक बंगला में तीनों के स्थान पर श् मिलता है। पूर्वी बंगला तथा आसामी में यही 'स्' ख हो गया है और पंजाबी तथा काश्मीरी में 'ह्' हो गया है।

(डा० चाटुर्ज्या)—'स्' का 'ह्' तो पश्चिमी हिन्दी में भी मिलता है, जैसे—तस्य > तस्स > तास > ताह, ताहि, करिष्यति>करिस्सदि करिसइ>करिहइ>करिहै आदि। इसी प्रकार 'बारह्' 'ग्यारह्', 'चौदह्' आदि का द् भी स् का ही स्थानापन्न है। इसके विपरीत बहिरंग भाषाओं में यह 'स्' मौजूद है; जैसे—करेसी (लहँदा)। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार तो महाराष्ट्री में 'स्' ही था 'श्' था ही नहीं और आज भी मराठी में केवल इ, ई, ए और य् के पूर्व का 'स्' ही 'श्' के रूप में परिवर्तित होता है। अतएव ऊष्म व्यंजनों के आधार पर वर्गीकरण करना उचित नहीं है।

(१२) (डा० ग्रियर्सन)—बहिरंग भाषाओं में महाप्राण व्यंजन अल्पप्राण हो जाते हैं परन्तु अन्तरंग उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी में इसका अभाव है।

(डा० चाटुर्ज्या)—बंगला में महाप्राण व्यंजनों का अल्पप्राणत्व मध्ययुग में हुआ है। परन्तु यह तो अन्य भाषाओं में भी है। पश्चिमी हिन्दी में भी महाप्राणों का परिवर्तन अल्पप्राण के रूप में हुआ है, जैसे—भगिनी >बहिन, चष्ट >* चाठना>चाटना, इष्टक>ईंठा> ईंटा, ईंट आदि। अतएव यह भी वर्गीकरण के लिए वैज्ञानिक आधार नहीं बनाया जा सकता।

(१३) (डा० ग्रियर्सन)—द्वित्व-व्यंजनों के सरलीकरण तथा पूर्व स्वर के दीर्घीकरण के आधार पर भी विभाजन किया जा सकता है।

(डा० चाटुर्ज्या)—वास्तव में प्राच्य भाषाएँ तथा राजस्थानी, गुजराती, मराठी इस विषय में मध्यदेशीय पश्चिमी हिन्दी से समानता

रखती हैं और पश्चिमी हिन्दी में भी भीख, पूत आदि शब्द मिलते हैं। इसके विपरीत पश्चिमोत्तरी सिन्धी, लहंदा और पंजाबी में पूर्व स्वर ह्रस्व रहता है, जो दरद भाषाओं का प्रभाव है। अतएव यह तर्क भी उपयुक्त नहीं है।

२—रूप-निर्माण-संबंधी आधार

(१) (डा० ग्रियर्सन)—बहिरङ्ग भाषाओं में भारोपीय से आगत विशेषणीय-प्रत्यय 'ल' मिलता है परन्तु मध्यदेशीय भाषाओं में इसका अभाव है।

(डा० चाटुर्ज्या)—'ल' प्रत्यय पश्चिमी हिन्दी में भी वर्तमान है और उससे रङ्गीला, कँटीला, छैला, छबीला आदि शब्द बनते हैं। इसका प्रयोग बहिरंग भाषाओं में भी समान उद्देश्य के लिए नहीं होता। पूर्वी भाषाओं तथा मराठी में इससे अतीत काल सम्पन्न होता है तथा गुजराती और सिन्धी में कर्मवाच्य के कृदन्तीय रूप। पंजाबी, लहंदा में इसका सर्वथा अभाव है।

(२) (डा० ग्रियर्सन)—स्त्री-प्रत्यय 'ई' बहिरंग शाखा की सभी भाषाओं में मिलती है, मध्यदेशीय में नहीं।

(डा० चाटुर्ज्या)—यह 'ई' सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में मिलती है इसका विकास संस्कृत 'आ' से हुआ है। पश्चिमी हिन्दी में भी इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है।

(३) (डा० ग्रियर्सन)—बहिरंग भाषाएँ पुनः संश्लेषावस्था में जा रही हैं परन्तु अन्तरंग भाषाएँ विश्लेषावस्था में ही हैं।

(डा० चाटुर्ज्या)—बहिरंग भाषाओं में व्यवहितावस्था के पर्याप्त चिह्न हैं और अन्तरंग भाषाओं में भी 'मद्दुंजे' जैसे संश्लिष्ट प्रयोग मिलते हैं। जहाँ तक विभक्ति-रूपों के आधार का प्रश्न है प्राचीन कारक-रूपों के अवशेष सभी में मिलते हैं। पश्चिमी हिन्दी के प्रयोग देखिए—घोड़े-का <घोड़हिकअ<घोटस्य+कृतः, अथवा घोटक+

तृतीया बहुवचन हि ∠भिः+कृतः। यहाँ प्राचीन संश्लिष्ट कारक का रूप अवशिष्ट है। बंगला घोड़ार<घोटक+कर अथवा बिहारी घोराक<घोटक+क, क ? आदि से बने हैं और सामासिक रूप हैं। वस्तुतः इस आधार पर भी विभाजन नहीं किया जा सकता है।

(४) (डा० ग्रियर्सन)—दोनों समूहों के क्रिया-पदों की निर्माण-पद्धति में भी तात्विक अन्तर है। बहिरंग भाषाओं में भूतकालिक क्रिया के रूपों से पुरुष, वचन आदि का ज्ञान हो जाता है क्योंकि कृदन्तीय क्रिया रूपों में सर्वनाम भी अन्तर्भुक्त होते हैं और तदनुसार रूपों को परिवर्तित करते हैं परन्तु मध्यदेशीय भाषाओं में प्रत्येक वचन और पुरुष में वही रूप रहते हैं, परिवर्तित नहीं होते। उदाहरणार्थ, मराठी में गेलों (मैं गया) गेल (वह गया) परन्तु पश्चिमी हिन्दी में मैं गया, तू गया, वह गया और मैंने मारा, हमने मारा, तूने मारा, तुमने मारा, उसने मारा, उन्होंने मारा आदि।

(डा० चाटुर्ज्या)—इस संबंध में वास्तविक स्थिति यह है कि प्राकृत-युग में संस्कृत के रूपों के स्थान पर क्रिया के कृदन्तीय रूपों का व्यवहार बढ़ गया था। इनमें सकर्मक क्रियाओं में क्रिया के कृदन्तीय रूप विशेषण के रूप में विशेष्य कर्म से संबंध स्थापित करते हैं और कर्त्ता करण कारक के रूप में रहता है। प्रायः सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इस प्रकार के कृदन्तीय रूप ही सकर्मक क्रियाओं में कर्मवाच्य में प्रयुक्त होते हैं। पश्चिमोत्तरी तथा दक्षिणी भाषाओं—सिंधी, लहंदा, गुजराती, राजस्थानी, मराठी में ये कर्मवाच्य के रूप में ही सुरक्षित हैं परन्तु पूर्वी भाषाओं में इन्होंने कर्तृवाच्य के रूपों का स्थान ले लिया है और अन्य पुरुष के सर्वनाम-प्रत्ययों को अन्तर्भुक्त करके क्रिया-पद बन गए हैं। इस प्रकार पश्चिमी भाषाओं में कर्मणि प्रयोग की प्रचुरता है जब कि पूर्वी भाषाओं में कर्तरि प्रयोग की। इस प्रकार स्पष्ट है कि पश्चिमी भाषाओं में क्रिया का भावे-प्रयोग विद्यमान है परन्तु पूर्वी भाषाओं में लुप्त हो चुका है।

डा० चाटुर्ज्या का वर्गीकरण

डा० ग्रियर्सन के वर्गीकरण की अवैज्ञानिकता और अनुपयोगिता के प्रदर्शन के उपरान्त डा० चाटुर्ज्या ने आधुनिक भाषाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है :—

(१) उदीच्य—सिंधी, लहंदा, पंजाबी।

(२) प्रतीच्य—राजस्थानी (पहाड़ी भी इसी में अन्तर्भुक्त है), गुजराती।

(३) मध्यदेशीय—पश्चिमी हिन्दी।

(४) दक्षिणात्य—मराठी।

(५) प्राच्य—(अ) कोशली या पूर्वी-हिन्दी।

(आ) बिहारी, उड़िया, आसामी, बंगला।

डा० चाटुर्ज्या के अनुसार काश्मीरी दरद-समूह की भाषा है। वे पहाड़ी को राजस्थानी के अन्तर्गत रखना इसलिए पसन्द करते हैं कि राजस्थानी भाषाओं का बड़ा गहरा प्रभाव पहाड़ी भाषाओं पर मध्य-युग में पड़ा है और आजकल पहाड़ी भाषाओं का जो स्वरूप है उसके विकास पर यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

आधुनिक आर्य-भाषाओं का संक्षिप्त परिचय

अब आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का ऐतिहासिक विवरण अत्यन्त संक्षेप में आगे के पृष्ठों में दिया जायगा—

(१) सिन्धी

यह भाषा सिन्ध प्रांत में बोली जाती है। यह प्रदेश अब पश्चिमी पाकिस्तान राज्य में पड़ता है परन्तु देश के विभाजन के उपरान्त सिन्धी भाषा-भाषी लोग पर्याप्त संख्या में पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश मध्यप्रदेश और बम्बई में आकर बस गए हैं। इसका विकास ब्राचड़ अपभ्रंश से हुआ है। इसकी पाँच मुख्य बोलियाँ

हैं—बिचोली, सरैकी, लारी, थरेली, कच्छी। इनमें से बिचोली ही टकसाली विभाषा है। इसकी लिपि लण्डा है। गुरुमुखी, फारसी और नागरी लिपि का भी कभी-कभी व्यवहार होता है। सिन्धी में उत्तर मध्यकाल में साहित्य रचना भी हुई है परन्तु आजकल इसका उतना विकास नहीं हो रहा है क्योंकि उत्तर भारत में आकर बसे हुए सिन्धियों में हिन्दी का प्रचार हो रहा है। सिन्धी के संरक्षण और प्रोत्साहन के लिए उपलब्ध साहित्य का नागरी लिपि में मुद्रण आवश्यक है।

(२) लहंदा

यह पश्चिमी पंजाब प्रान्त की भाषा है। इसके पश्चिमी पंजाबी, जटकी, हिन्दकी, मुल्तानी, त्रिमाली, पोठवार आदि कई अन्य नाम हैं, यह भूभाग आजकल पाकिस्तान में है। इसकी लिपि भी लण्डा ही है। इसमें साहित्य का प्रायः अभाव है, केवल 'जनमसाखी' आदि कुछ गद्य रचनाएँ हैं, जो सिक्ख धर्म से सम्बद्ध हैं। इस प्रदेश में आजकल उर्दू का बोलबाला है। लहंदा बोलनेवाले कुछ तो भारत में आ गए हैं और हिन्दी अपना रहे हैं और जो पाकिस्तान में रह गएहैं, उर्दू का उपयोग करते हैं।

(३) पंजाबी

यह भाषा हिन्दी-भाषी भूभाग के पश्चिमोत्तर में है। यह लहंदा से ऐसी मिली जुली रही है कि भेद करना कठिन रहा है परन्तु इधर पाकिस्तान बन जाने और लहंदा-भाषी प्रदेश के पाकिस्तान में चले जाने से, दोनों में अन्तर आ रहा है। पंजाबी का शुद्ध रूप अमृतसर के आस-पास बोला जाता है। इसकी उत्पत्ति टक्क अपभ्रंश से हुई है परन्तु शौरसेनी से उत्पन्न पश्चिमी हिन्दी का इस पर विशेष प्रभाव मध्ययुग में पड़ा है। इसकी कई बोलियाँ हैं परन्तु डोगरी ही प्रसिद्ध और प्रधान है, जो जम्मू और कांगड़ा में बोली जाती है। डोगरी विभाषा टक्करी

लिपि में लिखी जाती है परन्तु पंजाबी की अपनी लिपि गुरुमुखी है। कहीं कहीं लण्डा लिपि का भी प्रयोग किया जाता है। इसमें हाल का लिखा हुआ पर्याप्त साहित्य है। पंजाबी भाषा और साहित्य-दोनों पर फारसी का प्रभाव पड़ा है। इसीलिए कुछ समय पूर्व तक उर्दू और फारसी लिपि का यहाँ काफी प्रयोग होता था परन्तु अब राजनैतिक कारणों से पंजाबी लोग अपनी पंजाबी भाषा और गुरु-मुखी लिपि के विकास में लगे हैं।

(४) गुजराती

यह भाषा राजस्थान के दक्षिण-पश्चिमी में सौराष्ट्र से बम्बई के उत्तर तक और मालवा के आसपास बोली जाती है। इसकी उत्पत्ति भाषा-शास्त्री प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से मानते हैं।[1] डा० तेस्सितोरी के अनुसार इसके नमूने १२वीं शती से १५वीं शती तक के जैन-लेखकों की रचनाओं में मिलते हैं।[2] इस पर मध्यप्रदेशीय शौरसेनी अपभ्रंश का काफी प्रभाव पड़ा है।[3] प्राचीन पश्चिमी-राजस्थानी से अलग होकर स्वतंत्र भाषा के रूप में गुजराती के विकास का समय सोलहवीं शती का प्रारम्भ माना जाता है।[4] गुजराती पहले नागरी लिपि में लिखी जाती थी परन्तु अब उसकी अपनी लिपि है जो

---

१ पुरानी राजस्थानी—डा० तेस्सितोरी (हिन्दी अनुवादक-नामवर सिंह) अध्याय १ पृष्ठ ३ तथा ४

२ पुरानी राजस्थानी—डा० तेस्सितोरी (हिन्दी अनुवादक-नामवर सिंह) अध्याय १-पृष्ठ १२-१४

३ पुरानी राजस्थानी डा०—तेस्सितोरी (हिन्दी अनुवादक-नामवर सिंह) अध्याय १-पृष्ठ ५

४ पुरानी राजस्थानी—डा० तेस्सितोरी (हिन्दी अनुवादक-नामवर सिंह) अध्याय १-पृष्ठ १०

कैथी से मिलती जुलती है और नागरी से प्रभावित है। इसे गुजराती लिपि कहते हैं। गुजराती का विकास मुख्यतः व्यापारियों के साथ हुआ है और आज के दिन यह पश्चिम-भारत में वाणिज्य और व्यवसाय की प्रमुख भाषा हो गई है। गुजराती में नरसी मेहता (१५वीं शती) प्रसिद्ध कवि हुए हैं। प्रसिद्ध अपभ्रंश-वैयाकरण हेमचन्द्र (१२वीं शती) भी गुजराती थे। कृष्ण भक्त कवियों की ललित रचनाएँ गुजराती में मिलती हैं। इसका वर्तमान साहित्य भी पर्याप्त समुन्नत है।

(५) राजस्थानी

पंजाबी के क्षेत्र के ठीक दक्षिण में राजस्थानी भाषा प्रायः सम्पूर्ण राजस्थानी में बोली जाती है। मध्यदेश से इसका निरन्तर संबंध रहा है और शौरसेनी अपभ्रंश का इसके प्राचीन रूप पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसकी चार मुख्य बोलियाँ हैं—(अ) मारवाड़ी—यह जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, उदयपुर, अजमेर आदि प्रदेशों में बोली जाती है। (आ)—जयपुरी-हाड़ौती—यह जयपुर, कोटा, बूँदी आदि में बोली जाती है। (इ) मेवाती-अहीरवाटी—यह अलवर, गुड़गाँव के आसपास बोली जाती है। (ई) मालवी—यह इन्दौर, मालवा आदि में बोली जाती है। डा० तेस्सितोरी के अनुसार मारवाड़ी का विकास प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से हुआ है परन्तु मेवाती शेखावटी आदि के मूल में वे एक प्राचीन पूर्वी राजस्थानी की कल्पना करते हैं, जो विभाषा के रूप में प्रा० प० राजस्थानी तथा मध्यदेशीय अवहट्ठ के मध्यवर्ती प्रदेश में बोली जाती थी। राजस्थानी प्रदेश में साहित्यिक उपयोग के लिए हिन्दी का ही प्रयोग होता है। महाजनी और नागरी लिपियों का भी उपयोग होता है। सौराष्ट्री, भीली, खानदेशी और गूजरी की गणना भी इसी के अन्तर्गत की जाती है।

(६) मराठी

यह भाषा बम्बई, बरार और नागपुर आदि में बोली जाती है।

इसका विकास महाराष्ट्री अपभ्रंश से हुआ है। इसकी कई विभाषाएँ हैं—(१) पूना के आस पास देशी मराठी बोली जाती है। (२) कोंकण भूभाग में कोंकणी बोली जाती है। (३) बरार प्रदेश में बरारी बोली जाती है। (४) हल्बी भी मराठी की ही बोली मानी जाती है। यह मराठी तथा द्राविड़ भाषाओं की खिचड़ी है। यह बस्तर में बोली जाती है। साहित्यिक-मराठी का आदर्श पुनें की भाषा मानी जाती है। मराठी भाषा देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है। नित्य के व्यवहार में मोड़ी लिपि का उपयोग होता है। मराठी का साहित्य बड़ा समृद्ध, विशाल और प्राचीन है।

(७) पश्चिमी हिन्दी

पश्चिमी हिन्दी मध्यदेश की भाषा है। मध्यदेश की भाषा प्राचीन काल से ही सदैव प्रधान और समृद्ध रही है। वैदिक संस्कृति और साहित्य का यहीं विकास हुआ था और यहीं की भाषा आज राष्ट्रभाषा के गौरवशाली पद पर आसीन है। वर्तमान हिन्दी भाषा ने संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और अवहट्ठ की गौरव शाली परम्परा को उत्तराधिकार में पाया है। पश्चिमी हिन्दी की पाँच बोलियाँ हैं—बाँगरू, खड़ी बोली, ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली। वर्तमान साहित्यिक हिन्दी के मूल में खड़ी बोली ही है जो प्रादेशिक रूप से मेरठ, बिजनौर के आस पास बोली जाती है। यही खड़ी बोली उर्दू के भी मूल में है। पश्चिमी हिन्दी और उसकी बोलियों का विस्तृत विवरण अगले अध्यायों में दिया गया है।

(८) पूर्वी हिन्दी

इसे कोसली भी कहते हैं। इसके पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी और पूर्व में बिहारी का क्षेत्र है। इस भूभाग में प्राचीन काल में अर्ध-मागधी प्राकृत और अर्ध-मागधी अपभ्रंश का प्रयोग होता था। इन्हें जैन-प्राकृत और जैन-अपभ्रंश भी कहा जाता था क्योंकि अर्ध-

मागधी का विकास मुख्यतः जैनियों के द्वारा ही किया गया था। पूर्वी-हिन्दी की तीन बोलियाँ हैं— अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी। अवधी इनमें सबसे प्रधान है। इसी में जायसी तथा तुलसीदास जी ने काव्य रचना की है। परन्तु उत्तर-मध्यकाल में ब्रजभाषा के प्रचार से इसके विकास को क्षति पहुँची थी। नवचेतना के उद्-बुद्ध होने के साथ-साथ अवधी में साहित्य रचना भी होने लगी। इसी का वैज्ञानिक अध्ययन हिन्दी की बोलियों में सर्व प्रथम डा० बाबूराम सक्सेना ने किया है और इसका एक शब्द-कोश भी प्रकाशित हो चुका है। बघेली बघेल खण्ड में बोली जाती है। इसका केन्द्र रीवाँ है और रिवँई प्रमुख बोली है। छत्तीसगढ़ीछत्तीस गढ़ प्रादेश की बोली है। पूर्वी हिन्दी का विस्तृत विवरण अगले अध्यायों में दिया जायगा।

(६) बिहारी

बिहारी भाषा का क्षेत्र पूर्वी हिन्दी और बंगाली के बीच में है। यह बिहार के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के बनारस, मिर्ज़ापुर (कुछ क्षेत्र) गाज़ीपुर, बलिया, आजमगढ़, देवरिया, गोरखपुर, बस्ती (कुछ क्षेत्र) तथा जौनपुर (कुछ क्षेत्र) में बोली जाती है। इसकी उत्पति मागधी से हुई है। इसकी तीन प्रमुख बोलियाँ हैं—भोजपुरी, मैथिली, मगही,। मैथिली मिथिला और तिरहुत प्रदेश की बोली है। इसका प्राचीन इतिहास गौरवपूर्ण है। आजकल इसकी साहित्यिक स्थिति उतनी समृद्ध नहीं है। मैथिली की अपनी लिपि भी है। मगही पटना, गया आदि के आस पास बोली जाती है। भोजपुरी उत्तर प्रदेश के पूर्वोक्त जिलों तथा बिहार के चंपारन, सारन, शाहाबाद, जिलों में बोली जाती है और समृद्ध लोक-भाषा है। भोजपुरी और मगही के नित्य व्यवहार की लिपि कैथी है परन्तु छपाई आदि में सम्पूर्ण बिहार में नागरी लिपि का ही उपयोग होता है। शिक्षा का माध्यम भी

S.L. Yadava

साहित्यिक हिन्दी ही है। इसीलिए हिन्दी की विभाषाओं में बिहारी को गिना जाता है।

(१०) उड़िया

उड़िया को उत्कली और ओड्री भी कहते हैं। इसका क्षेत्र प्राचीन उत्कल अथवा वर्तमान उड़ीसा प्रान्त है। यह बंगाली से काफी समानता रखती है। इसे बंगाली से पृथक् करके स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित करने का श्रेय ओड्र या उड्र लोगों को है जो सुह्म और कलिंग के बीच रहते थे। उड़िया की अपनी स्वतंत्र लिपि है जो बंगला लिपि की अपेक्षा अधिक कठिन है। उड़िया का व्याकरण बंगला से बहुत मिलता जुलता है। इसीलिए पहले यह भ्रम था कि उड़िया बंगला से निकली है और बंगला तथा उड़िया का संबंध माँ-बेटी का है परन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि दोनों का संबंध बहिनों का है। उड़िया भाषा में लिखित प्राचीनतम लेख १३६५ ई० का है। उस समय तक उड़िया भाषा के एक विकसित भाषा का रूप धारण कर लेने के प्रभाव मिलते हैं। उड़ीसा प्रदेश बहुत समय से तेलुगु-भाषियों और मराठों के आधीन रहा है और इसलिए इसकी भाषा का उतना साहित्यिक विकास नहीं हो पाया। केवल कृष्ण-भक्ति विषयक साहित्य ही उपलब्ध है। अब उड़िया का बड़ा विकास हो रहा है। उड़िया में तेलुगु, मराठी, बंगला के शब्द तो काफी संख्या में हैं ही अरबी, फारसी और अंग्रेजी शब्द भी काफी पाए जाते हैं। इसकी विभाषाओं में भत्री उल्लेखनीय है जो उड़िया मराठी और तेलुगु की खिचड़ी बोली है।

(११) बंगला

बंगला एक प्राचीन और समृद्ध भाषा है। यह गंगा के मुहाने और उत्तर-पश्चिम में बोली जाती है। इसका क्षेत्र वर्तमान आसाम प्रान्त के कुछ भागों तथा पूर्वी पाकिस्तान तक फैला हुआ है।

इसकी दो विभाषाएँ हैं—पूर्वी बंगला, जिसका केन्द्र ढाका है, जो अब पूर्वी पाकिस्तान में है, और पश्चिमी बंगला, जो वर्तमान बंगाल प्रान्त की भाषा है। हुगली के निकट बोली जाने वाली पश्चिमी बंगला का ही एक रूप साहित्यिक बंगला बन गया है। यही भद्र और आभिजात्य वर्ग के लोगों की भाषा है और बंगालेतर प्रान्तों में भी यही विभाषा बंगालियों में प्रचलित है। साथ ही ग्रामीण बंगला तथा नागरीय बंगला में भी पर्याप्त भेद मिलता है। बंगला की अपनी लिपि भी है जो प्राचीन देवनागरी से ही विकसित हुई है। इसका साहित्य बहुत समृद्ध है। आधुनिक साहित्य में माइकेल मधुसूदन दत्त, बंकिम, डा० एल० राय, शरत् चन्द्र, रविबाबू आदि जाने-माने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के साहित्य स्रष्टा हैं। बंगाली लोगों को अपनी मातृभाषा से अत्यधिक प्रेम है और इसीलिए आधुनिक उपयोगी तथा वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थ बंगला भाषा में प्रचुरता के साथ लिखे गए हैं। बंगाल में शिक्षा का माध्यम भी बंगला ही है।

(१२) आसामी

यह भाषा आसाम प्रान्त में बोली जाती है। आसाम में इसे असमिया कहते हैं। उड़िया के समान इसका भी बंगला से घनिष्ठ संबंध है और यह भी बंगला की भगिनी है। इसका व्याकरण कुछ हद तक बंगला से प्रभावित है। उच्चारणों में भी अधिक भेद नहीं हैं। इसके शब्द-भाण्डार में भी बंगला शब्द आ गए हैं। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि असमिया में स्वतंत्र भाषा के तत्व नहीं हैं। यह भाषा स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। इसके प्राचीन साहित्य में शंकरदेव आदि के पद बहुत उत्कृष्ट कोटि के हैं। साथ ही प्राचीन असमिया में इतिहास-ग्रन्थ पर्याप्त मिलते हैं, जिनका अन्य भाषाओं में प्रायः अभाव सा है। आधुनिक युग में अब

असमिया का बड़ा विकास हो रहा है। इसकी लिपि तो बंगला ही है केवल दो-तीन अक्षर भिन्न और परिवर्तित हैं। इस पर तिब्बती, बर्मी और नागा भाषाओं का भी कुछ प्रभाव पाया जाता है, विशेषतः शब्द-भाण्डार में।

(१३) पहाड़ी भाषाएँ

पहाड़ी भाषाओं को ग्रियर्सन ने पृथक् स्थान दिया था परन्तु डा० चाटुर्ज्या ने इन्हें राजस्थानी के अन्तर्गत ही माना है। बात यह है कि नेपाल आदि में मध्य-युग में राजस्थान के राजपरिवारों का ही शासन रहा है और पहाड़ी भाषाओं के विकास में राजस्थानी के तत्व बहुत अधिक मिले हुए हैं। पश्चमी पहाड़ी का जयपुरी से और मध्य-पहाड़ी का मारवाड़ी से घनिष्ठ संबंध दिखाई पड़ता है। पहाड़ी भाषाओं के तीन उपवर्ग हैं—(१) पूर्वी पहाड़ी—इसे नेपाली, पर्वतिया, गोरखाली, खसकुरा, आदि नामों से भी पुकारा जाता है। इसका टकसाली रूप काठमाण्डू की घाटी में बोला जाता है। यहाँ के भोट लोगों में नेवारी (तिब्बती परिवार की एक बोली) भी बोली जाती है। नेपाली में नवीन साहित्य भी लिखा जाने लगा है और इसे शिक्षा का माध्यम भी नेपाल में बनाया जा रहा है। इसकी लिपि देवनागरी है। यहाँ अभी भी हिन्दी का पर्याप्त महत्व है। इसका वैज्ञानिक अध्ययन जर्मन तथा रूसी विद्वानों ने किया है तथा टर्नर महोदय ने इसका एक प्रामाणिक शब्द कोष भी संकलित और संपादित किया है जो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन के लिए बड़ा उपयोगी है। (२) मध्य अथवा केन्द्रीय पहाड़ी—इसके दो विभेद हैं—कुमाउँनी और गढ़वाली। कुमाउँनी, अल्मोड़ा, नैनीताल आदि में बोली जाती है और गढ़वाली गढ़वाल राज्य में तथा मसूरी के आस पास बोली जाती है। इन बोलियों में साहित्य का प्रायः अभाव है। ये देवनागरी लिपि में लिखी जाती

हैं। यहाँ साहित्यिक व्यवहार में हिन्दी का उपयोग होता है। (३) पश्चिमी पहाड़ी—इसमें बहुत से बोलियाँ—जौनसार-बावर प्रदेश की जौनसारी, शिमला पहाड़ी की क्वोंथली, कुलू की कुल्लुई, चम्बा की चम्बाली तथा फुटकर बोलियाँ सिरमौरी, मण्डे आली आदि—आ जाती हैं। इनमें से कोई भी प्रमुख या प्रधान विभाषा नहीं है। साहित्य किसी में भी नहीं मिलता। चम्बाली को छोड़कर शेष सभी टक्करी लिपि में लिखी जाती हैं।

इस प्रकार पिछले दो अध्यायों में भारतीय आर्य-भाषा के प्राचीनतम स्तर से उसके आधुनिक युग तक के विकास का ऐतिहासिक तथा भाषा-शास्त्रीय विवरण अत्यन्त संक्षेप में दिया गया। इस विवरण को स्पष्टतया और सरलता के साथ संलग्न सारिणी से समझा जा सकता है जिसमें भारतीय आर्य भाषा के विकास की पूर्ण रूपरेखा दी गई है।

पाँचवाँ प्रकरण

हिन्दी की बोलियाँ और प्रादेशिक भाषाएँ

हिन्दी की सीमाएँ और उसकी प्रादेशिक भाषाएँ विभाषाएँ तथा बोलियाँ

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में हिन्दी सर्वप्रमुख और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भौगोलिक दृष्टि से यह उस विस्तीर्ण भूभाग की भाषा है, जो पश्चिम में जैसलमेर, उत्तरपश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर के पहाड़ी प्रदेश, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खण्डवा के बीच में फैला हुआ है। यही भाषा शिष्ट जनता के पारस्परिक विचार-विनिमय का साधन है और साहित्यिक अभिव्यक्ति, पत्र-पत्रिकाओं तथा शिक्षा-दीक्षा के माध्यम के रूप में गृहीत है। इस भूभाग में हिन्दी के अतिरिक्त उसकी प्रादेशिक भाषाएँ—राजस्थानी, बिहारी, पहाड़ी भाषाएँ—आती हैं। शास्त्रीय दृष्टि से भाषा वैज्ञानिकों ने हिन्दी की दो प्रमुख उपभाषाएँ मानी हैं—पश्चिमी-हिन्दी तथा पूर्वी-हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी का विकास शौरसेनी—अपभ्रंश से हुआ है और यह गंगा-यमुना के दोआबे की भाषा है। इसकी पाँच जनपदीय बोलियाँ हैं—बाँगरू, खड़ी बोली, ब्रज, कन्नौजी, और बुन्देली। पूर्वी-हिन्दी का विकास प्राचीन अर्ध-मागधी की परम्परा में हुआ है। इसकी तीन बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीस गढ़ी। पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी का भिन्न भिन्न अपभ्रंशों से विकास होने के कारण दोनों में मौलिक अथवा तात्विक अन्तर है। अब हम इन दोनों की तुलना के द्वारा इस अन्तर को स्पष्ट करेंगे।

पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी में अन्तर

(क)—उच्चारण तथा शब्द-रूप

(१) पूर्वी हिन्दी में 'अ' का उच्चारण अर्ध विकृत स्वर के रूप में होता है परन्तु पश्चिमी-हिन्दी में यह पूर्णतः विकृत स्वर है और बांगरू प्रदेश तक तो पंजाबी के प्रभाव से और भी विकृत हो जाता है।

(२) पश्चिमी-हिन्दी की 'ड़' और 'ढ़' ध्वनियाँ पूर्वी-हिन्दी में सामान्यतः 'र' 'रह' के रूप में उच्चरित होती हैं; जैसे प० हि०—तोड़े, पू० हि० तोरे।

(३) 'र' और 'ल' के उच्चारण में भी दोनों में अन्तर है। वास्तव में पूर्वी हिन्दी में प्राचीन-मागधी के प्रभाव से सर्वत्र 'र' के स्थान पर 'ल' होना चाहिए परन्तु बहुत से स्थान पर व्यत्यय हो गया है। प० हि० के फल, हल, जलै आदि के लिए पू० हि० में प्रयुक्त फर, हर, जरै आदि में इसीलिए 'र' मिलता है। सामान्यतः प० हि० में प्रयुक्त 'र' के लिए पू० हि० में 'ल' ही मिलता है; जैसे प० हि०—रस्सी, पू० हि०—लेजुरी आदि।

(४) पश्चिमी हिन्दी में शब्द के मध्यम 'ह' का प्रायः लोप हो जाता है परन्तु पूर्वी में यह सन्ध्यक्षर-युक्त रूप में प्रयुक्त होता है; जैसे—प० हि०—दिया, पू० हि० देहेसि आदि।

(५) पश्चिमी हिन्दी में शब्द के आरम्भ में प्रयुक्त 'य' 'व' पूर्वी हिन्दी में 'ए', 'ओ' हो जाते हैं; जैसे—प० हि०—यामें, वामें, पू० हि०—एमें, ओमें आदि।

(६) पश्चिमी हिन्दी में दो स्वर एक साथ प्रायः नहीं आते परन्तु पूर्वी हिन्दी में ऐसा नहीं है। इसलिए प० हि के 'ऐ', 'औ' पू० हि० में 'अइ', 'अउ' के रूप में उच्चरित होते हैं; जैसे—प०

हि०—कहै, पू० हि०—कहइ, प० हि० पौर, मौर आदि, पू० हि०—पउर, मउर आदि।

(७) पश्चिमी हिन्दी के आकारान्त (ब्रज के ओकारान्त) शब्दों का 'आ' पूर्वी हिन्दी में या तो ह्रस्व हो जाता है या लुप्त हो जाता है; जैसे—प० हि० बड़ा (ब्र० बड़ो), पू० हि०—बड़्, बड़ और प० हि०—भला, (ब्र० भलो) पू० हि०—भल्, भल आदि।

(८) पश्चिमी हिन्दी के आकारान्त शब्दों 'आ' कर्त्ता कारक में तो रहता है परन्तु विकारी में 'ए' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पूर्वी हिन्दी में कर्त्ता में भी और विकारी रूप में भी 'आ' ही बना रहता है।

(ख)—परसर्ग

पूर्वी हिन्दी कारकों के लिए प्रयुक्त परसर्ग निम्न हैं—

कर्म—के, का, काँ, कहँ; करण—से, सौं, सन्; सम्प्रदान—के, का, काँ, कहँ; अपादान—सें, तें, सेंती, हुँत; सम्बन्ध—केर, कै, कर, अधिकरण—में, मा, माँ, महँ, पर।

पश्चिमी हिन्दी में ब्रज तथा खड़ी बोली के परसर्गों में भी भेद है। इनका वर्णन इसी अध्याय में आगे किया जायगा। पश्चिमी हिन्दी में पूर्वी हिन्दी से जो विशेष अन्तर है, वह है 'ने' का प्रयोग। इस 'ने' का पूर्वी हिन्दी में सर्वथा अभाव है; जैसे प० हि०—उसने किया, पू० हि०—उ किहिसि। इसका क्रिया-रूपों पर प्रभाव पड़ता है जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

(ग) सर्वनाम

(१) पश्चिमी हिन्दी (ब्रज तथा खड़ी बोली) में सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के रूप 'जो' 'सो' और प्रश्नवाचक का रूप 'कौन' होते हैं, पूर्वी हिन्दी में इनके लिए क्रमशः 'जे' 'से' और 'के' प्रयुक्त होते हैं।

(२) अधिकार-वाचक सर्वनाम (possessive pronoun) के

लिए प० हि० में 'मेरा' प्रयुक्त होता है, पू० हि० में 'मोर'। इसी प्रकार प० हि० 'तेरा' और पू० हि० 'तोर' भी हैं। वस्तुतः पश्चिमी हिन्दी का मध्यग 'ए' पू० हि० में 'ओ' हो जाता है और परिणाम स्वरूप अन्त्य स्वर ह्रस्व हो जाता है।

(३) पश्चिमी हिन्दी में पुरुष वाचक सर्वनाम के एक वचन में 'मैं' और बहुवचन में 'हम' का प्रयोग होता है, परन्तु पूर्वी हिन्दी में 'हम' का प्रयोग एक वचन में ही होता है और बहुवचन में हमन् का प्रयोग होता है।

(घ) क्रिया-पद

पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी के क्रिया-पदों में भी बड़ा अन्तर है। हिन्दी के प्रायः तीनों कालों—सम्भाव्य वर्तमान, अतीत, और भविष्यत्—के रूपों की उत्पत्ति मुख्यतः संस्कृत के वर्तमान काल से हुई और वर्तमान काल के रूप तो दोनों में प्रायः समान हैं परन्तु भूत और भविष्यत् के रूपों में निश्चित अन्तर है। अब हम इस अन्तर पर तनिक विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

(i) **भूतकाल**—पश्चिमी-हिन्दी के भूतकालिक क्रिया-पदों का विकास मूलतः भूतकालिक-कृदन्त के कर्मवाच्य के रूपों से हुआ है। 'मारा' क्रिया-पद का विकास-क्रम इस प्रकार है—मारितः > मारिदो (शौ० प्रा०) > मारिओ > मार्यौ (ब्रज०)। इस विकास-क्रम में 'इ' अथवा 'य' की स्थिति शौरसेनी से उद्भूत बोलियों के भूतकालिक रूपों की अपनी विशेषता है। पूर्वी-हिन्दी में 'इ' अथवा 'य' से युक्त रूप वास्तव में शौरसेनी से आए हुए प्रभाव के कारण ही हैं। पूर्वी-हिन्दी के रूप देखिए—

मारेउँ अर्थात् मैंने मारा।
मारिस् अर्थात् तूने मारा।
मारिस् अर्थात् उसने मारा।

पूर्वी-हिन्दी के क्रिया-रूपों में सर्वनाम-पद छिपे रहते हैं और इसीलिए प्रत्येक पुरुष के रूप अलग-अलग होते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि रूपों की भिन्नता से पुरुष का ज्ञान होता है। पश्चिमी-हिन्दी में ऐसा नहीं है और सभी पुरुषों में समान रूप से 'मारा' ही प्रयुक्त होता है। एक बात और ध्यान देने की यह है कि पश्चिमी-हिन्दी में ये रूप वस्तुतः कर्म वाच्यीय पदों के समान प्रयुक्तहोते हैं और कर्त्ता में 'ने' का प्रयोग होता है तथा क्रिया के लिंग-वचन आदि कर्म के अनुसार निर्धारित होते हैं। पूर्वी-हिन्दी में भी इनका कर्मवाच्य रूप ही मिलता है। इनमें कर्त्ता करण के रूप में आता है और 'ने' के अभाव में उसका विकारी रूप प्रयुक्त होता है। यहाँ पर भी लिंग-वचन की दृष्टि से क्रिया का अन्वय कर्म के साथ ही होता है। पूर्वी-हिन्दी की यह समानता वस्तुतः शौरसेनी प्रभाव के ही कारण है।

(ii) **भविष्यत् काल**—संस्कृत में भविष्यत्-काल के रूप दो प्रकार से बनते हैं—(१) कर्तृवाच्य रूप में, जैसे—चलिष्यति, और (२) कर्मवाच्य-कृदन्त भावे-रूप में, जैसे—चलितव्यम्। मध्यआयुग में शौरसेनी भाषाओं ने प्रथम प्रकार के प्रयोगों को अपना लिया था और मागधी भाषाओं ने दूसरे प्रकार के प्रयोगों को। शौरसेनी-प्रसूत बोलियों में आज भी 'चलिष्यति' प्रयोग से विकसित रूप ही वर्तमान

पुरुष	एक वचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	चलिहौं	चलिहैं
मध्यम पुरुष	चलिहै	चलिहौ
अन्य पुरुष	चलिहै	चलिहैं

हैं। 'चलिष्यति' का विकास निम्न प्रकार से हुआ है—चलिष्यति> चलिस्सदि>चलिहइ>चलिहै। पश्चिमी हिन्दी की बोली—ब्रज—के भविष्यत् काल के रूप ऊपर कोष्ठक में दिए जा चुके हैं।

स्पष्ट है कि पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के भविष्यत्काल के रूप शौरसेनी के कर्तृवाच्य-रूपों से ही विकसित हुए हैं। पूर्वी हिन्दी के रूपों के विकास के मूल में कर्मवाच्य-कृदन्त के भावे-प्रयोग हैं। 'चलितव्यम्' का विकास निम्न प्रकार से हुआ है—चलितव्यम्> चलिदव्वं>चलिअव्वं>चलब। अब पूर्वी हिन्दी की प्रधान बोली—अवधी—के भविष्यत् काल के रूप देखिए—

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	चलिबूँ	चलब
मध्यम पुरुष	चलबे	चलबौ
अन्य पुरुष	चलिहै	चलिहैं

पश्चिमी हिन्दी और उसकी बोलियाँ

पश्चिमी-हिन्दी का विकास मध्यदेशीय भाषा शौरसेनी-अपभ्रंश से हुआ है। प्राचीनकाल से ही मध्यदेश की भाषा का बड़ा महत्व रहा है और आज भी पश्चिमी-हिन्दी की एक बोली—खड़ी बोली के ही परिष्कृत रूप को राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण पद मिला है। पश्चिमी-हिन्दी, कथ्य-भाषा के रूप में, उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग, पंजाब के पूर्वी-भाग, पूर्वी-राजस्थान, ग्वालियर, बुन्देलखण्ड और मध्यप्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी भाग में बोली जाती है। इसके उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, दक्षिण-पश्चिम में राजस्थानी, दक्षिण-पूर्व में मराठी, पूर्व में पूर्वी-हिन्दी और उत्तर में पहाड़ी बोलियों का क्षेत्र है। सीमावर्ती भूभागों में इस पर पंजाबी, राजस्थानी तथा पूर्वी-हिन्दी का प्रभाव पड़ता है। इसकी व्याकरण तथा वाक्य-रचना विश्लेषणात्मक है। हम पहले ही बता चुके हैं कि इसकी पाँच बोलियाँ हैं—बाँगरू, खड़ी बोली, ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली। अब हम क्रमशः इनका संक्षिप्त परिचय देंगे।

(१)—बाँगरू

यह बोली बाँगरू, करनाल, रोहतक तथा दिल्ली जिलों के अतिरिक्त पटियाला, नाभा, झींद तथा पूर्वी-हिसार अथवा हरियाना में भी बोली जाती है। इसकी सीमाएँ पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली के प्रदेशों के बीच में पड़ती हैं। कुछ लोगों के विचार से यह वस्तुतः खड़ी बोली का ही राजस्थानी और पंजाबी-मिश्रित एक स्थानीय रूप है परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इसे स्वतंत्र बोली मानना ही उचित है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग २२ लाख है![1] इसके

---

१ विभिन्न बोलियों के बोलनेवालों की संख्याएँ डा० ग्रियर्सन के भाषा-सर्वे के अनुसार दी गई हैं।

कई स्थानीय नाम हैं। हरियाना के भूभाग में यह हरियानी, देसड़ी अथवा देसवाली कही जाती है। रोहतक और दिल्ली के आसपास के जाट प्रदेश में इसे जाटू कहते हैं और दिल्ली के आसपास चमखा बोली। अन्य स्थानों में यह बाँगरू ही कही जाती है। विभिन्न अभिधानों के होते हुए भी इस सम्पूर्ण प्रदेश में, अल्प स्थानीय भेदों के अतिरिक्त, बोली का स्वरूप एक ही है। इसका वैज्ञानिक और प्रामाणिक अध्ययन अभी नहीं हो पाया है।

(२) खड़ी बोली

(अ) भौगोलिक सीमाएँ—

इसे सरहिन्दी हिन्दोस्तानी (Hindostani) और कभी-कभी नागरी-हिन्दी भी कहते हैं। वस्तुतः खड़ी बोली या सरहिन्दी नाम अधिक उचित है। नागरी-हिन्दी शब्द का प्रयोग खड़ी बोली के आधार पर विकसित साहित्यिक-हिन्दी के लिए किया जाता है और यही उपयुक्त भी है। खड़ी बोली का क्षेत्र पश्चिमी रूहेलखण्ड, गंगा का उत्तरी दोआबा और अम्बाला जिला तक है। वस्तुतः यह रामपुर, मुरादाबाद, मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरपुर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला, कालसिया और पटियाला के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसके पश्चिम में पंजाबी और बाँगरू, उत्तर में पहाड़ी बोलियों, और दक्षिण तथा पूर्व में ब्रजभाषा का क्षेत्र है। इसके बोलने वालों की संख्या प्रायः ५३ लाख के आसपास है। खड़ी बोली का क्षेत्र मुसलमानी शासकों का केन्द्र स्थान रहा है। इसी कारण से मुसलमानी संस्कृति तथा भाषा का प्रभाव सबसे अधिक इसी क्षेत्र की बोली पर पड़ा है। खड़ी बोली के शब्द-भंडार में फारसी और अरबी के बहुत से शब्द हैं जो अपने तद्भव रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसकी भाषा-शास्त्रीय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(आ) भाषा-शास्त्रीय विशेषताएँ

(१) साहित्यिक-हिन्दी के 'ऐ' 'औ' खड़ी बोली में 'ए' 'ओ' के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। कहीं-कहीं तो 'ऐ' अथवा 'ए' का लोप भी हो जाता है, जैसे— बट्ट (बैठ)। स्वराघातहीन अक्षरों में 'इ' का 'अ' हो जाता है, जैसे—मिठाई>मठाई। कहीं-कहीं इस 'इ' का लोप हो जाता है, जैसे—इकट्ठा > कट्ठा आदि। खड़ी बोली में मध्य तथा अन्त्य 'न' और 'ल' क्रमशः 'ण' और 'ड़' के रूप में प्रयुक्त होते हैं। खड़ी बोली में 'ड' और 'ढ' के उच्चारण सुरक्षित हैं, यद्यपि साहित्यिक हिन्दी में इनके स्थान पर 'ड़', 'ढ़' का प्रयोग होता है। खड़ी बोली में, गाडी (गाड्डी) और चढ़ना बोलते हैं। स्वराघातयुक्त दीर्घ स्वर के बाद के व्यंजन का द्वित्व हो जाता है और दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। 'ई' 'ऊ' 'ए' के स्थान पर इस प्रकार 'इ' 'उ' 'ऐ' हो जाता है। केवल 'आ' यथावत् बना रहता है। उदाहरण देखिए—जाता >जात्ता, भेजा>भेज्जा, छोटा>छोट्टा, बापू>बाप्पू, भूखा>भुक्खा।

(२) व्यंजनांत संज्ञाओं के विकारी रूप में एकवचन में 'ओ' और 'उँ' आता है और बहुवचन में 'ऊँ', जैसे—'घरों पडा रह्या' (एकवचन 'घर'), मरदूँ का (मर्दों का)। ईकारान्त अविकारी बहुवचन में 'ईं' आता है, जैसे बेहीं। खड़ी बोली के परसर्ग निम्न हैं—कर्त्ता—ने, नें, कर्म और सम्प्रदान—के, कूँ, नूँ, ने, अपादान—सेत्तीं, अधिकरण—पे, प। सर्वनामों के कर्तृ (Agent) एकवचन में 'ने' परसर्ग लुप्त रहा है, जैसे—'में भेज दिया था।' उल्लेख-सूचक (Demonstrative) सर्वनामों के कर्त्ताकारक में पुलिंग तथा स्त्री-लिंग रूप अलग अलग होते हैं—यू, यह (पु०)—या (स्त्री०), ओ, ओह (पु०)—वा (स्त्री०)। अन्य विशेष रूप इस प्रकार हैं—असा (ऐसा), इब् (अभी), इभी, इब जाँ (अभी भी) कुच्छ (कुछ) आदि। नकारार्थ में 'नहीं' के अतिरिक्त 'ने', 'नी' का भी प्रयोग होता है।

'न' का प्रयोग प्रायः उत्तम पुरुष में होता है, जैसे—मैं नी खाँहूँ और 'ने' का प्रयोग प्रायः अन्य पुरुष में होता है, जैसे—उसे को ने देता, आदि।

(३) खड़ी बोली के सम्भाव्य क्रियापद सम्भाव्य वर्तमान के अतिरिक्त वर्तमान काल के मूल साधारण भाव को भी द्योतित करते हैं। 'मैं मारूँ' का अर्थ मैं मारता हूँ और मार सकता हूँ दोनों होता है। निश्चयवाचक-वर्तमान के रूप प्रायः साधारण वर्तमान के रूप से बनते हैं, जैसे—

मारू हूँ,	मारें हें
मारे हे	मारो हो
मारे हे	मारें हैं

इनमें क्रमशः 'हूँ', 'हें', 'हे', 'हो', 'हे' 'हैं', लगा कर रूप बनाए जाते हैं। खड़ी बोली में अपूर्ण-वर्तमान के रूप भूतकालिक रूप से सम्पन्न होते हैं, जैसे—मारूँ थूँ, अर्थात् 'मारता था।' भूतकाल के रूप, खड़ी बोली में, 'ए' युक्त–क्रियावाचक विशेष्य-पद में भूतकाल की सहायक क्रिया संयुक्त करके बनाए जाते हैं, जैसे—मारे थे, मारे था, चले थे, चले था आदि। भविष्यत् काल के लिए 'गा' संयुक्त करके रूप बनाए जाते हैं। इनमें एक और परिवर्तन यह हो जाता है कि 'ग' से पूर्व आने वाले दीर्घ स्वर का प्रायः लोप हो जाता है, जैसे—जाऊँगा>जाँगा, खाऐगा>खागा, जाएँगे>खाँगे आदि। यह परिवर्तन काल के रूपों में भी पाया जाता है, जैसे—जाएँ हैं>जाँहैं, खाएँ हैं>खाँहैं आदि। जिन क्रियाओं के अन्त में 'ना' होता है, उनके विकारी रूप में 'ना' का 'णा' हो जाता है और रूप सम्पन्न करते समय उसका 'णे' या 'ण' हो जाता है, जैसे—खाणे को, चलणे को, पड़ण को, मरण को आदि। खड़ी बोली में कुछ क्रियाओं के भूतकालिक रूप दो होते हैं, जैसे—करा, किया अथवा गया, गिया आदि।

(३) ब्रज-भाषा

(अ) भौगोलिक सीमाएँ

ब्रज तथा उसके चारों ओर फैले हुए गङ्गा-जमुना के दोआबे की बोली ब्रज है। प्राचीन साहित्यिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है और हिन्दी का मध्ययुगीन (भक्ति और रीति कालीन) साहित्य मुख्यतः (इसी बोली पर आधारित) साहित्यिक ब्रज भाषा में लिखा गया है। तभी से यह बोली के स्थान पर भाषा कही जाने लगी थी और आज भी, यद्यपि इसका स्थान नागरी-हिन्दी ने ले लिया है, इसे ब्रजभाषा ही कहते हैं। ब्रज का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। यह दक्षिण में आगरा, भरतपुर, धौलपुर, करौली, ग्वालियर के पश्चिम-भाग और जयपुर के पूर्वी भाग में बोली जाती है। उत्तर में इसकी सीमा गुड़गाँव जिले के पूर्वी-भाग तक है। उत्तर-पूर्व में यह बुलन्द शहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली और नैनीताल के तराई क्षेत्र तक बोली जाती है। इस समय इसके बोलने वालों की संख्या ७६ लाख से अधिक ही है। इस विस्तृत क्षेत्र में ब्रज के कई रूप मिलते हैं जिनमें यत्किंचित् अन्तर भी है। मथुरा, अलीगढ़, और पश्चिमी आगरा के आसपास की बोली विशुद्ध और आदर्श ब्रज मानी जाती है।

(आ) स्थानीय-बोलियाँ

सीमावर्त्ती भू भागों में विभिन्न बोलियों का सम्मिश्रण होने के कारण ब्रज की कई स्थानीय-बोलियाँ हो जाती हैं। बुलन्दशहर, बदायूँ और नैनीताल की तराई के पश्चिमी भाग की बोली में खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। नैनीताल की तराई में बोली जाने वाली यह बोली 'भुम्सा' कहलाती है। बरेली, पीलीभीत, एटा, मैनपुरी आदि की ओर इस पर कन्नौजी की छाप पड़ने लगती है। इधर की बोली 'अन्तर्वेदी' कहलाती है। गुड़गाँव, भरतपुर आदि के आसपास इस पर राजस्थानी बोलियों का प्रभाव पड़ने

लगता है। भरतपुर के आसपास के पहाड़ी प्रदेश का नाम 'डाँग' होने से इधर इसे 'डाँगी' कहते हैं। ग्वालियर के उत्तर-पूर्व तथा धौलपुर के कुछ अंशों में इसे 'सिकरवाड़ी' कहते हैं। करौली, तथा चम्बलपार की ब्रज पर बुन्देली की स्थानीय बोली भदौरी या भदावरी का प्रभाव पड़ता है। इसे 'जादो बारी' कहते हैं। इस प्रकार मथुरा के आस पास की विशुद्ध ब्रज भाषा को छोड़ कर चतुर्दिक बोली जाने वाली सीमावर्तिक स्थानीय-विशेषताओं से युक्त बोलियों को अलग-अलग नामों से अभिहित किया जाता है।

(इ) स्थानीय-बोलियों के ध्वन्यात्मक अन्तर

इस विस्तृत ब्रज-बोली प्रदेश में संध्यक्षरों तथा अर्ध-स्वरों के उच्चारण में पर्याप्त भेद है। सिकरवाड़ी और जादोबारी में भूतकालिक कृदन्तीय रूप 'चल्यौ' के स्थान पर 'चलौ' का प्रयोग होता है और 'य्' का लोप हो जाता है। बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी में भी 'य्' का लोप हो जाता है और 'औ' के स्थान पर 'ओ' हो जाता है। अन्तर्वेदी में भी यही बात मिलती है। उधर भदौरी (बुन्देली की स्थानीय बोली) में पर्यवसित ब्रज-प्रदेश तक यह विशेषता पाई जाती है। डाँगी में 'य्' तो रहता है परन्तु कभी-कभी विकल्प से 'औ' का 'ओ' हो जाता है और इस प्रकार 'चल्यौ', 'चल्यो'—दोनों रूप बनते हैं। स्वरों के अतिरिक्त व्यंजनों के उच्चारण में भी अन्तर मिलता है। डाँगी में अन्य पुरुष सर्वनाम 'वह' के लिए 'ह्व' का प्रयोग होता है। अलीगढ़ और आगरे में इसके लिए ग्राम्य-अंचलों में 'ब्व' और 'ग्व' का प्रयोग किया जाता है। भदौरी के प्रभाव से र् के बाद के व्यंजन का द्वित्व हो जाता है। यह विशेषता, एटा, मैनपुरी तक मिल जाती है, जैसे—खर्चु > खच्चु (मैन०) आदि। अलीगढ़ी ब्रज से 'औ' 'ओ' तथा अन्य दीर्घस्वरों के बाद 'व्' का 'म्' हो जाता है, जैसे—बावन> बामन, मनावन> मनामन। कभी-कभी क्य>

च्; द् का पूर्ववर्ती ज् > द् भी हो जाता है,—क्यों>चों' भेज्-दयौ। कहीं-कहीं अल्पप्राण का प्रयोग महाप्राण के स्थान पर होता है—हाथ> हात। इसी प्रकार द्वै के स्थान पर है का प्रयोग भी पाया जाता है। ब्रजभाषा में प्रयुक्त करण-कारक के चिन्ह अन् का धौलपुर के आस पास 'अनि' हो जाता है, जैसे झरवनि।

(ई) भाषाशास्त्रीय विशेषताएँ

ब्रज की इन स्थानीय विभिन्नताओं के अतिरिक्त इस विस्तृत प्रदेश में भाषा का रूप प्रायः समान है। इसकी भाषाशास्त्रीय विशेषताएँ निम्न हैं--

(१) ब्रज में अन्त्य आकार के स्थान पर ओकार का प्रयोग प्रायः होता है, जैसे—घोड़ो, कैसो, जैसो, झगड़ो, नीको, आदि। कर्म के चिन्ह 'को' में वर्तमान 'ओ' का उच्चारण 'औ' से मिलता जुलता होता है और को > कौ हो जाता है। अन्त्य 'ह्' के घिस जाने के कारण माहि, जाहि, वाहि, याहि नाँहि आदि का माँय, जाय, वाय, याय, नाँय आदि उच्चारण होता है। इसी प्रकार जावैंगे,>जामैंगे आवैंगे<आमैंगे आदि उदाहरणों में 'व' के स्थान पर म् का उच्चारण भी पाया जाता है। पर—अक्षर (Syllable) में आ रहने पर उसके पूर्व अक्षर में आनेवाले 'उ' तथा 'इ' का लोप हो जाता है, जैसे—सियार > स्यार, बियारी> ब्यारी, कुवाँर > क्वाँर आदि। 'अ', 'आ' के उपरान्त आने वाली 'इ' का ब्रज में 'य्' हो जाता है, जैसे—आय कै, जाय कै, खाय कै, आय, पाय, दिखाय है आदि। 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण ब्रज में 'अय्' 'अव् के समान होता है। केवल य कार और वकार से पूर्व आने वाले 'ऐ' 'औ' का ही शुद्ध संध्यक्षर उच्चारण मिलता है।

(२) ब्रज में आकारान्त पुंलिग संज्ञाएँ अविकारी रूप में 'अ' के स्थान पर 'ओ' और विकारी में 'ए'-प्रत्यय ग्रहण करती हैं, जैसे

घोड़ा> घोड़ो (अवि०) घोड़े (विकारी)। जहाँ पदान्त में 'रा' अथवा 'या' होता है, वहाँ केवल आकार का ओकार और एकार नहीं होता। व्रज के अनुसर्ग निम्न हैं—कर्त्ता—नें, नैं, कर्म और सम्प्रदाय—कुँ, कूँ, कौं, कैं, कें; करण और अपादान—सों, सूँ, तें, ते; सम्बन्ध—कौ, के (विकारी पु०), की (विकारी स्त्री०)। अधिकरण—में, मैं, पै, लौं। विशेषण—पदों के रूपः प्रायः खड़ी बोली के ही समान होते हैं, किन्तु दीर्घ-पुलिंग आकारान्त शब्द औकारान्त हो जाते हैं और उनके विकारी रूप के एक वचन में 'ए' 'ऐ' और बहुवचन में ए, एँ, ऐ ऐँ—प्रत्यय पदान्त में लगते हैं।

(३) व्रज में निश्चय वाचक वर्त्तमान के रूप सहायक-क्रिया के रूपों के संयोग से सम्पन्न होते हैं। निश्चय वाचक वर्तमान के रूप इस प्रकार हैं :—

पुरुष	एक वचन		बहुवचन	
	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
उत्तम पुरुष	करत हौं करूँ हूँ	करति हौं करूँ हूँ	करत हैं करैं हैं,	करति हैं करैं हैं
मध्ययम पुरुष	करत है करै है	करति है करै है	करत हैं करौ हौ	करति हौं करौ हौ
अन्य पुरुष	करत है करै है	करति है करै है	करत हैं करैं हैं	करति हैं करैं हैं

वर्तमान अपूर्ण के रूप वर्तमान काल के कृदन्तीय रूपों की सहायता से बनते हैं। भूतकाल के रूप व्रज में सहायक—क्रिया हौं, हुतौ आदि

वचन	एकवचन		बहुवचन	
लिंग	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
पुरुष—सभी पुरुषों में समान	करतो	करती	करते	करती

के संयोग से निष्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त 'ओ'—'ए', 'ई'—'ई' से भी ये रूप सम्पन्न होते हैं, देखिए, दूसरा कोष्ठक, पृ० १४०।

भविष्यत्काल के रूप या तो साधारण वर्तमान के रूपों में 'गौ' संयुक्त करके बनाए जाते हैं या क्रिया में 'इह', 'एह' के संयोग से, जैसे—

वचन	एक वचन		बहु वचन	
लिंग	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
उत्तम	देखौंगो, देखूँगो	देखौंगी, देखूँगी	देखैंगे,	देखैंगी,,
पुरुष	देखिहौं	देखिहौ	देखिहैं	देखिहैं
मध्यम	देखैगो, देखिहौ	देखैंगी, देखिहैं	देखौगे,	देखौगी,
पुरुष			देखिहौ	देखिहौ
अन्य	देखैगो, देखिहै	देखैगी, देखिहै	देखैंगे,	देखैंगी,
पुरुष			देखिहैं	देखिहैं

आज्ञार्थक में ब्रज में मार, मारहि, मारि, मारौ, मारियो, मारियै, मारिजै (कृपया मारिये)। ब्रज में क्रियार्थक संज्ञा के रूप हैं—करनो, करिबो। कर्तृवाच्य वर्तमान कृदन्त में करतो, करती रूप बनते हैं। भूत-कृदन्त कर्त्तरि और कर्मणि प्रयोग के रूप हैं—कियो, कीन्हों, कर्‌यो, कियो। असमापिका क्रिया के रूप हैं—मारि कै, मारि करि ('कै' और 'करि' प्रत्ययों से सम्पन्न होते हैं)। कर्मवाच्य रूप 'इयै' प्रत्यय लगाकर बनाए जाते हैं, जैसे—मारियै।

णिजन्त प्रयोग 'आव्' प्रत्यय से बनाए जाते हैं, जैसे कलावनौं। ब्रज में दोहरे णिजन्त रूप भी मिलते हैं, जो 'वाव्' प्रत्यय के संयोग से बनते हैं, जैसे—चलवावनों। कभी-कभी केवल 'वा' के संयोग से 'चलवानौं' आदि रूप भी सम्पन्न हो जाते हैं।

(४) कन्नौजी

इस बोली का नामकरण 'कन्नौज' नगर के नाम पर हुआ है जो इसके क्षेत्र के केन्द्र में पड़ता है। यह बोली हरदोई, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, फ़र्रुखाबाद, इटावा, कानपुर आदि ज़िलों में बोली जाती है। इसके उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में ब्रज, दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में बुन्देली और पूर्व में अवधी का क्षेत्र है। अपने विशुद्ध रूप में यह फ़र्रुखाबाद और इटावा में ही बोली जाती है। शेष भागों में यह किसी न किसी अन्य बोली से प्रभावित और मिश्रित दिखाई पड़ती है। पीलीभीत और शाहजाँपुर की बोली पर ब्रज का प्रभाव पड़ा है। कानपुर की बोली पर बुन्देली का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। हमीरपुर जिले के सामने यमुना के किनारे की इस प्रकार प्रभावित बोली को 'तिरहारी' कहते हैं। हरदोई जिले की कन्नौजीपर अवधी का बड़ा प्रभाव पड़ा है। यहाँ तक कि सण्डीला तहसील की बोली कन्नौजी है कि अवधी, यह निश्चय करना कठिन पड़ता है। कन्नौजी बोलनेवालों की संख्या ४५ लाख के आस-पास है। कन्नौजी उच्चारण तथा व्याकरणिक स्वरूप में ब्रज से इतनी मिलती-जुलती है कि इसे स्वतंत्र बोली मानने में संकोच होता है। ब्रजभाषा के विशिष्ट अध्येता तथा विद्वान् डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस विषय पर विशद विचार करके यह स्पष्ट कर दिया है कि कन्नौजी पृथक् बोली नहीं है, वरन् ब्रज का ही स्थानीय रूप है और उसी के अन्तर्गत आती है। उनका विचार है कि "कन्नौजी को निश्चित रूप से ब्रजभाषा के अन्तर्गत रखना चाहिए।"[१]

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा — ब्रजभाषा-पृष्ठ-३४

(५) बुन्देली

(अ) भौगलिक सीमाएँ

बुन्देली अथवा बुन्देलखण्डी का नाम बुन्देलखण्ड प्रदेश के आधार पर हुआ है, जहाँ बुन्देला क्षत्रियों का प्राधान्य रहा है। परन्तु बुन्देली की सीमाएँ बुन्देलखण्ड प्रदेश की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत हैं। यह प्रायः सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड के अतिरिक्त ग्वालियर के पूर्वी भाग तथा मध्यप्रदेश के एक बहुत बड़े भूभाग की भाषा है। इसके उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में कन्नौजी और ब्रज, पश्चिम-दक्षिण में राजस्थानी, दक्षिण में मराठी तथा पूर्व में बघेली का क्षेत्र है। अपने विशुद्ध रूप में यह झाँसी, हमीरपुर, जालौन, दतिया, सागर, दमोह, ग्वालियर, भूपाल, सिवनी, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, आदि में बोली जाती है। मिश्रित रूप में यह आगरे और इटावे के दक्षिणी भागों तक बांदा जिले में, छिंदवाड़ा, बाला घाट और नागपुर के कुछ भागों तक बोली जाती है।

(आ) बुन्देली की बोलियाँ

बुन्देली में भाषागत विभिन्नताएँ बहुत कम हैं। अपने विशुद्ध रूप में यह प्रायः सर्वत्र एक सी है परन्तु फिर भी कुछ स्थानीय विचित्रताओं के आधार पर विशुद्ध बुन्देली की तीन बोलियाँ मानी जाती हैं। पँवारी बोली ग्वालियर के उत्तर पूर्व में तथा दतिया, टीकमगढ़, आदि में बोली जाती है। राठौरी अथवा लोधान्ती हमीरपुर के कुछ भाग, जालौन के कुछ भाग, चरखारी तथा पड़ोस के सभी पूर्ववर्ती देशी रियासतों के क्षेत्रों में बोली जाती है। खटोला बोली दक्षिणी भूभाग में सागर दमोह, भूपाल के कुछ भाग, सिवनी, नरसिंहपुर आदि में बोली जाती है। बुन्देली के सीमावर्ती क्षेत्रों में बहुत सी मिश्रित बोलियाँ बोली जाती हैं। हमीरपुर जिले के किनारे यमुना के तट पर 'तिरहारी बोली' बोली जाती है, जो जिला जालौन तक चली गई

है। हमीरपुर और बाँदा जिलों को पृथक् करके बहती हुई केन नदी के किनारे दोनों ओर 'कुंड़ी' बोली जाती है। निमड़ा जालौन जिले के विशुद्ध बुन्देली क्षेत्र और हमीरपुर जिले के तिरहारी-क्षेत्र के बीच की बोली है। इस ओर की मिश्रित बोलियों में बनाफरी सबसे प्रसिद्ध है। यह हमीरपुर के दक्षिण-पूर्व तथा पूर्ववर्ती बुन्देलखण्ड-एजेन्सी के पूर्व में बोली जाती है। आल्ह खण्ड में यही बनाफरी प्रयुक्त हुई है। भदावरी और तोंवरगढ़ी, भदावर और तोंवरगढ़ क्षेत्र की बोलियाँ हैं। ये बोलियाँ उस भूभाग में बोली जाती हैं जहाँ ग्वालियर की पूर्वी सीमा आगरा तथा इटावे से मिलती है। इस सीमा पर चम्बल नदी बहती है। ये मिश्रित बोलियाँ चम्बल के किनारे तथा आगरा तथा इटावा के कुछ भागों तक चलीं गईं हैं। दक्षिण में लोधी, कोष्टी, कुम्भारी और नागपुरी बोलियाँ भी मराठी से प्रभावित बुन्देली की ही बोलियाँ हैं। लोधी बालाघाट में बोली जाती है। कोष्टी छिन्दवाड़ा, चाँदा और भण्डारा के कोष्टी लोग बोलते हैं। छिन्दवाड़ा और बुल्डाना के कुम्भार लोग कुम्भारी बोलते हैं। नागपुरी नागपुर के मैदानी भूभाग की मराठी मिश्रित बुन्देली-हिन्दी है। इस प्रकार बुन्देली के क्षेत्र में बहुत सी मिश्रित बोलियाँ विभिन्न सीमावर्ती भूभागों में बोली जाती हैं। बुन्देली का सम्पूर्ण क्षेत्र बहुत विस्तृत है और इसके बोलने वालों की संख्या ७० लाख से कुछ ऊपर ही है।

बुन्देली की भाषा शास्त्रीय विशेषताएँ

बुन्देली कुछ विद्वानों के विचार से ब्रज का ही एक स्थानीय रूप है परन्तु बात ऐसी नहीं है। बुन्देली का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। उसकी उच्चारण-प्रणाली, उसकी पद-रचना आदि ब्रज से भिन्न है और शब्द-भंडार में तो ऐसे न जाने कितने शब्द हैं जो बुन्देली के

अपने हैं तथा अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। अब हम बुन्देली की भाषा-शास्त्रीय विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

(१) 'ऐ', 'ओ' (ह्रस्व 'ए', 'ओ') बुन्देली में 'इ', 'उ' हो जाते हैं, जैसे—बेटी > बिटिया (यहाँ बेटिया के स्थान पर यह रूप बना है), घोड़ा > घुरिया (घुरिया यहाँ घोरिया के स्थान पर बना है)। 'ऐ' और 'औ' प्रायः 'ए' और 'ओ' हो जाते हैं, जैसे—कैहैं > केहैं, और > ओर आदि। कहीं-कहीं इ > अ हो जाता है, जैसे—बरोबर > बिरोबर। इसी प्रकार कहीं-कहीं क > ग हो जाता है, जैसे—हकीकत > हकीगत। यह परिस्थिति अक्सर विषमीकरण के रूप में होती है। 'ड़' के स्थाग पर 'र' हो जाता है, जैसे—घोड़ा > घोरो> घुरिया। स्वर मध्यग 'ह' का लोप हो जाता है, जैसे—पहिरा कै > पैरा कै आदि। 'आ' के बाद आने वाले 'ह' के 'अ' को 'उ' हो जाता है जैसे—चाहत > चाउत। आदि 'य' और 'व' क्रमशः 'ज' और 'ब' हो जाते हैं, जैसे—यह > जो, वह > बो।

(२) दीर्घ स्वरान्त संज्ञा पद पुलिंग में 'वा' और स्त्रीलिंग में 'या' प्रत्ययान्त हो जाते हैं, जैसे—घोड़ा > घुरवा, घोड़ी > घुरिया। इनमें दीर्घ का ह्रस्व स्वर भी हो जाता है। आकारान्त शब्द ओकारान्त हो जाते हैं, जैसे घोड़ा > घोरो, परन्तु कुछ इसके अपवाद भी हैं, जैसे—दद्दा, कक्का, नन्ना आदि। कुछ संज्ञापद बुन्देली में विचित्र प्रकार से सम्पन्न हुए हैं, जैसे बिलैवा, चरैवा आदि। स्त्रीलिंग-वाची 'इन' प्रत्यय के लिए बुन्देली में 'नी' प्रत्यय लगाई जाती है, जैसे—तेलनी, हुरकिनी आदि। ओकारान्त संज्ञा शब्दों में पुलिंग में अविकारी बहुवचन और विकारी एकवचन में 'ए' और विकारी बहुवचन में 'अन्' प्रत्यय लगती है, जैसे— घोरो, घोरे, घोरे, घोरन्। अन्य पुलिंग संज्ञाएँ केवल विकारी बहुवचन में 'अन्' प्रत्ययान्त होती हैं। विकारी एकवचन तथा अविकारी बहुवचन में वे अपरिवर्तित रहती हैं। आकारान्त शब्दों में अविकारी बहुवचन में कभी-कभी 'आँ'

या 'अन्' प्रत्यय भी मिलती है, जैसे हिन्ना, कुत्तन्। 'इया' प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग संज्ञाओं में अविकारी बहुवचन में 'इयाँ' और विकारी बहुवचन में इयन् प्रत्यय लगती हैं, जैसे—घुरिया, घुरियाँ, घुरियन्। अन्य स्त्रीलिंग संज्ञापदों में ईकारान्त अविकारी बहुवचन में 'ईं' और विकारी बहुवचन में इन् प्रत्यय लगती है। तथा शेष में अविकारी बहुवचन में 'एँ' और विकारी बहुवचन में अन्, जैसे—(ईकारान्त) हुरकिनी, हुरकिनीं, हुरकिनी, हुरकिनिन् और (अन्य में) बात, बातें, बात, बातन् आदि। बुन्देली के कारक-अनुसर्ग निम्न हैं—कर्त्ता-विकारी—ने, नें; कर्म और सम्प्रदान—कों, खों; करण और अपादान—से, सें, सों; संबंध—को, के, की; अधिकरण—मैं, में। बुन्देली सर्वनामों के रूप इस प्रकार हैं—

	एकवचन		बहुवचन	
	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष
कर्त्ता	में, मैं, मैं,	तूँ, तूँ,	हम	तुम
विकारी	मैं ने	तैंने	हम	तुम
संबंध	मोको, मेरो	तोको, तेरो,	हमाओ, हमारो	तुमकों, तुमारो
	मोरो, मोने	तोरो, तोने	हमकों	तुमाओ

अन्य पुरुष, 'वह' बुन्देली में (पु०) 'बो' या 'ऊँ' और (स्त्री०) 'बा०' होता है। इसका बहुवचन 'बे' और विकारी बहुवचन 'बिन' या 'उन' होता है। 'आप' सम्प्रदान में अपुन-खों हो जाता है। अन्य सर्वनाम इस प्रकार हैं—का (हि० क्या), कोऊ (हि० कोई), कछू

(हि० कुछ), कितेक, कतेक, कै (हि० कितने), जो (हि० यह), ए (हि० यह)।

(३) बुन्देली के सहायक क्रिया-पद इस प्रकार हैं—

वर्तमान काल

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु०	हों, आँव, आँवँ	हैं, आयँ
मध्यम पु०	हे, आँयँ	हो, आव
अन्य पु०	हे, आँयँ	हैं, आयँ

भूतकाल में सभी पुरुषों में समान ही रूप होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

लिङ्ग	एकवचन	बहुवचन
पुलिङ्ग	हतो, तो	हते, ते
स्त्रीलिङ्ग	हती, ती	हतीं, तीं

भविष्यत् काल के रूप हैं—हुहों, हौंगों। सम्भाव्य 'हुआ' के लिए भओ (पु०) भए (स्त्री०) प्रयुक्त होते हैं। नकारात्मक सहायक-क्रियापद 'नाइयाँ' का प्रयोग किया जाता है जो क्रियाबोधक-विशेषण रूपों में संयुक्त होता है, जैसे—खाने, नइयाँ आदि। अपूर्ण भूतकाल में मारत-हतो>मारत्तो बनता है। सहायक क्रिया 'हतो' लिंग, वचन

के अनुसार परिवर्तित हो जाती है। आज्ञार्थ क्रिया के रूप वर्तमान संभावनार्थ के समान ही होते हैं। वर्तमान संभावनार्थ के रूप देखिए—

	एक वचन	बहु वचन
उत्तम पु०	मारूँ	मारें
मध्यम पु०	मारे	मारो
अन्य पु०	मारे	मारें

बुन्देली के वर्तमान क्रियाबोधक-विशेषणों आकारान्त क्रियाओं में 'आत्' प्रत्यय लगती है, जैसे—आउत, चाउत आदि। असमापिका-क्रिया के रूप 'के' के संयोग से बनते हैं, जैसे—मार के (मार कर)।

पूर्वी-हिन्दी और उसकी बोलियाँ

पूर्वी हिन्दी का विकास प्राचीन अर्ध-मागधी से हुआ है। पूर्वी-हिन्दी उत्तर-प्रदेश, बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश—इन पाँच प्रदेशों के कुछ न कुछ भागों में फैली हुई है। उत्तर प्रदेश में यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद के कुछ भाग, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी में तथा इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर तथा मिर्जापुर के कुछ भागों में बोली जाती है। बघेलखण्ड में तो पूर्णतः पूर्वी-हिन्दी ही बोली जाती है। मध्यप्रदेश में यह उदयपुर, सरगुजा, कोरिया, जयपुर, छोटा नागपुर, और छत्तीसगढ़ में तथा मण्डला, जबलपुर के कुछ भागों में बोली जाती है। इसके उत्तर में पहाड़ी

भाषाएँ, पूर्व में भोजपुरी तथा नागपुरी, दक्षिण में मराठी, और पश्चिम में कन्नौजी और बुन्देली बोली जाती हैं। इसकी तीन बोलियाँ मानी जाती हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। इनमें अवधी ही प्रधान है। बघेली वास्तव में भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से अवधी के ही अन्तर्गत आती है। अब हम क्रमशः संक्षिप्त परिचय देंगे :—

(१)—अवधी

(अ)—भौगोलिक सीमाएँ

अवधी पूर्वी-हिन्दी की सबसे महत्वपूर्ण बोली है। इसे कभी कभी पूर्वी और कोसली भी कहते हैं परन्तु अवधी नाम ही अधिक प्रचलित और उचित है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, खीरी, सीतापुर, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी में तो बोली ही जाती है, फैजाबाद, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, मिर्जापुर और जौनपुर जिलों के कुछ भागों में भी बोली जाती है। अवधी के क्षेत्र के उत्तर में नैपाली, पश्चिम में कन्नौजी और बुन्देली तथा पूर्व में भोजपुरी का क्षेत्र है। इस विस्तृत प्रदेश में अवधी बोलने वालों की संख्या प्रायः १ करोड़ ४२ लाख है।

(आ)—अवधी के तीन स्थानीय रूप

अपने विशुद्ध और अमिश्रित रूप में अवधी की तीन शाखाएँ मानी जातीं हैं। डा० बाबूराम सक्सेना के अनुसार ये तीन—केन्द्रीय, पूर्वी तथा पश्चिमी अवधी हैं। खीरी, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव और फतेहपुर की अवधी पश्चिमी, बहराइच, बाराबंकी तथा रायबरेली की केन्द्रीय और गोंडा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर और मिर्जापुर आदि की अवधी पूर्वी है। इनमें से लखनऊ, फतेहपुर, उन्नाव, रायबरेली की अवधी को स्थानीय नाम बैसवाड़ी से भी पुकारा जाता है क्योंकि इस प्रदेश को बैस राजपूतों के प्राधान्य के कारण मध्य युग में बैसवाड़ा कहते थे।

(इ) अवधी-बघेली से प्रभावित बोलियाँ—बाँदा ज़िले की बोलियां

बुन्देलखण्ड के ज़िला बाँदा की बोलियाँ भाषा की दृष्टि से अवधी तथा बघेली के ही अधिक समीप हैं। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि बघेली वस्तुतः अवधी का ही एक दक्षिणी रूप है और स्वतंत्र बोली के रूप में उसकी सत्ता भाषाशास्त्रीय प्रमाणों से नहीं सिद्ध हो पाती। अतएव स्पष्ट है कि ज़िला बाँदा में अवधी-मिश्रित बोलियाँ ही बोली जाती हैं। इनमें तिरहारी, गहोरा, जूड़र आदि मुख्य हैं। तिरहारी बोली का जो स्वरूप बाँदा ज़िले में यमुना के किनारे-किनारे बोला जाता है, वह अवधी (बघेली) के अधिक समीप है और हमीरपुर ज़िले में यमुना के दक्षिणी छोर पर बोली जाने वाली तिरहारी बुन्देली के अधिक समीप है। बाँदा ज़िले के पूर्वी भाग में, बागैं तक बोली जाने वाली बोली 'गहोरा' कहलाती है। यह तिरहारी से पर्याप्त मिलती-जुलती है। इसकी भी दो स्थानीय बोलियाँ हैं—(१) 'पथा'—जो बाँदा ज़िले के दक्षिणी-पूर्वी भाग में बोली जाती है और (२) 'अन्तर्पथा'—जो बाँदा के दक्षिणी भाग में बोली जाती है। बाँदा ज़िले में केन और बागैं नदी के बीच 'जूड़र' बोली जाती है। इसके भी तीन रूप हैं—कुण्डड्री, बग्रावल और अघर। इनमें कुण्ड्री तो वस्तुतः बुन्देली की मिश्रित बोली है जो बाँदा के उत्तर-पश्चिम में बोली जाती है। बग्रावल, बाँदा के दक्षिण-पश्चिम की बोली है और अघर बाँदा ज़िले के मध्यवर्ती भागों में बोली जाती है। अतिन्तम दोनों अवधी-बघेली से प्रभावित और उनकी मिश्रित बोलियाँ मानी जा सकती हैं।

(ई) अवधी की भाषा शास्त्रीय विशेषताएँ

प्रायः समस्त अवधी-भाषी प्रदेश में भाषा के स्वरूप में कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल थोड़ी सी स्थानीय विशेषताएँ और

विभिन्नताएँ यत्रतत्र मिलती हैं। अब हम अवधी की भाषाशास्त्रीय विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

(१) अवधी में पूर्व की ओर 'अ' का उच्चारण अर्धविवृत स्वर का सा होता है जबकि पश्चिमी अवधी में यह विवृत के पास पहुँच जाता है। हिन्दी के 'इ', 'ह्' कभी-कभी अवधी में 'र्', 'र्ह्' हो जाते हैं, जैसे—तोरे आदि। अवधी में 'ऐ', 'औ' का उच्चारण 'अइ' 'अउ' के समान होता है। हिन्दी के आकारान्त शब्द अवधी में लघ्वंत या व्यंजनांत हो जाते हैं, जैसे—बड़े, बड़्, भल, भल् आदि। वस्तुतः अवधी की प्रवृत्ति ही लघ्वंत है। इसी प्रकार अवधी पदारम्भ में 'य्' 'व्' नहीं सहन करती और य् तथा व् क्रमशः इ (ए) और उ (ओ) में परिवर्तित हो जाते हैं।

(२) अवधी में संज्ञाओं के तीन रूप होते हैं—घोड़, घोड़वा, घोड़ौना, नारी, नरिया, नरीवा आदि। इनके रूप इस प्रकार होते हैं—

	अकारान्त पु०		आकारान्त पु०		ईकारान्त स्त्री०	
वचन	कर्त्ता	विकारी	कर्त्ता	विकारी	कर्त्ता	विकारी
एकवचन	घर	घर, घरे, घरै, घरहि घरने, घरन	घोड़वा	घोड़वा	नारी	नारी, नारिहि, नारिन्
बहुवचन	घर	घरन	घोड़वे, घोड़वने	घोड़वन	नारी	नारिन

(३) अवधी सर्वनामों के रूप—

सर्वनाम शब्द	एक वचन			बहुवचन		
	कर्त्ता	विकारी	संबंध	कर्त्ता	विकारी	संबंध
मैं	मैं	मो	मोर	हम	हम, हमरे	हमार, हमरे
तू	तैं, तू	तो	तोर	तुम, तूँ	तुम, तुम्हरे	तुमार, तुमरे तोहार, तोहरे
आप	आप, आपु	आप, आपु	आपकर, आपन	आप	आप्	आपकर, आपन
यह	ई,	ए, एह, एहि	एकर, एहिकर	इन् , ए	इन्	इनकर, इनकेर
वह	ऊ, वै	ओ, ओह, ओहि	ओकर ओहिकर	ओ, उन्, ओन्	उन् , ओन्	ओनकर, ओनकेर
जो	जो, जे, जौन	जे, जेहि	जेकर, जेहिकर	जे	जिन	जिनकर, जिनकेर
सो	सो, से, तौन	ते, तेहि	तेकर, तेहिकर	ते	तिन	तिनकर, तिनकेर
कौन	को, के, कौन	के, केहि	केकर, केकरे	को, के	किन	किनकर, किनकेर

हिन्दी क्या के लिए अवधी में 'का' (विकारी-कइ, कयि, काहे) होता है। हिन्दी कोई के लिए केह, केऊ, कौनो, कवनो (विकारी केऊ, केहू होते हैं।

(४) अवधी की सहायक क्रियाएँ इस प्रकार हैं—

वर्तमान काल

वचन	एकवचन		बहुवचन	
पुरुष	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
उत्तम पु०	हौं, अहेउँ, बाट्यें उँ	अहिउँ, हइउँ, बाटिउँ	अही, हई, बाटी	अहिन्, हइन, बाटिन्
मध्यम पु०	हए, अहिस अहै, बाटे, बाटिस्	हइस, अहिस बाटिस	हौं, अहेव, अह्यौ, अहौ, बाट्यें, बाट्यौं	हइउ, अहिब, बाटिन
अन्य पु०	अहै, है, आय, बाटै, बा	अहै, है, बाटै, बाटइ, बा	अहैं, हैं, बाटैं	अहीं, बाटीं, बाटिन

भूतकाल—

वचन लिंग	एकवचन		बहुवचन	
पुरुष	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
उत्तम पु०	रहेउँ	रहिउँ	रहे, रहा	रहीं, रहे, रहिन
मध्यम पु०	रहेस् रहिस्	रहेस् रहिसि	रहेउ, रहा	रहीं, रहिउ
अन्य पु०	रहा, रहै, रहेस्	रही	रहेन, रहिन, रहैं	रही, रहिन

अवधी की मुख्य सकर्मक क्रियाएँ निम्न हैं :—

क्रियार्थक संज्ञा—देखब; वर्तमान कृदन्त (कर्त्तरि प्रयोग)—देखत, देखित; भूत कृदन्त (कर्मणि प्रयोग)—देखा; भविष्यत्-कृदन्त (कर्मणि प्रयोग)—देखब; संभाव्यार्थ कृदन्त—देखत, देखित।

वर्तमान सामान्य में देखत अहेउँ, और भूत अपूर्ण में देखत रह्यों बनता है। विकारी क्रियाओं में जाब का भूतकृदन्त ग, गा, गय (स्त्री० गइ) और गवा (स्त्री० गई) होता है। होब का भ, भा, भय (भइ); भवा (भई) और करब, लेब, देब आदि का कीन्ह, लीन्ह, दीन्ह बनता है। भूतकाल के इनका किहिस, लिहिस, दिहिस आदि बनता है। आकारान्त क्रियाओं में 'न्' प्रत्यय लगता है, जैसे—डेरान, रिसियान आदि।

अन्य क्रियापद इस प्रकार हैं:—

पुरुष	वर्तमान संभाव्यार्थ		भविष्यत्	
	एकवसन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु०	देखौं	देखी	देखदूँ, देखबों, देखिहौं	देखब, देखिहैं
मध्यम पु०	देख, देखस	देखउ, देखब	देखबे, देखबस्, देखिहै	देखबौ, देखिहौ
अन्य पु०	देखइ	देखैं	देखि, देखे, देखिहै	देखिहैं

अवधी के परसर्ग इस प्रकार हैं—कर्त्ता—ऐ (केवल अकारान्त शब्दों में सकर्मक क्रिया के साथ); कर्म-सम्प्रदान—के, काँ, कहँ, का, कह; करण-अपादान—सैं, सौं, से, सन् , सेंती, हुँत, तें; संबंध—केर, कर, कै (स्त्री०); अधिकरण—में, माँ, महँ, म, पर। सम्प्रदान के लिए कहीं कहीं 'बाड़े' का भी प्रयोग देखा जाता है। अवधी में विशेषणों का भी लिंग परिवर्तन विशेष्य-पद के अनुसार होता है, जैसे—आपन-आपनि, ऐसा—ऐसि, ओकर—ओकरि आदि।

(२) बघेली

बघेली बघेल खण्ड की बोली है। इसका केन्द्र स्थान रीवाँ है और इसीलिए इसे रिवाँई भी कहते हैं। यह रीवाँ के अतिरिक्त

चन्दनकार, मण्डला तक बोली जाती है। इसके मिश्रित रूप हमीरपुर, बाँदा और फतेहपुर में कुछ भागों के बोले जाते हैं, जिनका विवरण ऊपर अवधी के प्रसंग में दिया जा चुका है। इसी प्रकार मण्डला, जबलपुर में भी बघेली की मिश्रित बोलियाँ ही बोली जाती हैं। बघेली के उत्तर में अवधी और भोजपुरी पूर्व में छत्तीसगढ़ी, दक्षिण में मराठी तथा पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में बुन्देली का क्षेत्र है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ४० लाख की है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से बघेली वास्तव में अवधी का ही एक स्थानीय रूप है। स्वयं डा० ग्रियर्सन ने भी इसे स्वीकार किया है, परन्तु उन्होंने इसे स्वतंत्र बोली का स्थान राजनैतिक कारणों तथा जन-भावना के कारण ही दिया है। तभी से यह स्वतंत्र बोली के रूप में गिनी जाती है।

(३) छत्तीसगढ़ी 1966

यह मुख्यतः छत्तीसगढ़ प्रदेश की भाषा है। इसे लरिया या खल्टाही भी कहते हैं। बिलासपुर तथा बालाघाट के कुछ भागों तक यह फैली हुई है, जहाँ इसे खलोटी कहते हैं। छत्तीसगढ़ी रायपुर, बिलासपुर, सम्भलपुर के पश्चिमी भाग, काँकेर, नन्दगाँव, खैरागढ़, चुइखदान, कवंधा और चाँदा के उत्तर-पूर्व तथा बालघाट के पूर्व में अपने विशुद्ध रूप में बोली जाती है। कोरिया, सरगुजा, जशपुर, उदयपुर में इसकी एक बोली सरगुजिया बोली जाती है। मिश्रित रूप में यह उड़ीसा के कुछ भागों में तथा बस्तर में भी बोली जाती है। बस्तर की बोली हल्बी है, जो मराठी तथा उड़िया से प्रभावित है। छत्तीसगढ़ी बोलनेवालों की संख्या प्रायः ४० लाख है। इसमें साहित्य बिल्कुल नहीं है।

हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ

हिन्दी की दोनों शाखाओं—पश्चिमी तथा पूर्वी—तथा उनकी बोलियों का वर्णन करने के उपरान्त अब हम हिन्दी की प्रादेशिक भाषाओं की ओर बढ़ते हैं। हिन्दी भाषी प्रदेश में हिन्दी के अतिरिक्त

तीन मुख्य प्रादेशिक भाषाएँ आती हैं—राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी भाषाएँ।

(१) राजस्थानी

राजस्थानी राजस्थान प्रदेश की भाषा है इसके पूर्व में पश्चिमी-हिन्दी, दक्षिण में मराठी, पश्चिम में गुजराती और उत्तर में पंजाबी आदि का क्षेत्र है। इसकी मुख्य बोलियाँ—मारवाड़ी में वाड़ी मालवी, जयपुरी, हाड़ौती, और मेवाती-अहीरवाटी हैं। भीली, खानदेशी और नीमाड़ी भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। इनका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

(२) पहाड़ी भाषाएँ

पहाड़ी भाषाएँ, जिनमें मुख्यतः पश्चिमी और मध्यवर्ती पहाड़ी बोलियाँ हैं हिन्दी-भाषी प्रदेश के ही अन्तर्गत मानी जाती हैं। पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानी की एक शाखा हैं और उसी से विकसित हुई हैं। ये वस्तुतः मध्ययुग (मुसलमानी शासनकाल) में राजस्थानी से अलग हो गई थीं। इनका वर्णन भी पिछले प्रकरण में किया जा चुका है।

(३) बिहारी

हिन्दी भाषी प्रदेश के अन्तर्गत तीसरी मुख्य भाषा बिहारी है। यह बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश की भाषा है। इसका विकास मागधी से हुआ है और यह पूर्वी भाषाओं से सम्बद्ध है। राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण आधुनिक बिहारी हिन्दी से इतनी प्रभावित हुई है कि आज उसकी गणना हिन्दी की प्रादेशिक भाषाओं में होने लगी है। बिहारी के पश्चिम में पूर्वी-हिन्दी, उत्तर में नैपाली, पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में बंगला और दक्षिण में उड़िया बोली जाती हैं। बिहारी की तीन बोलियाँ हैं—मैथिली, मगही, भोजपुरी। मैथिली गंगा के उत्तर में दरभंगा के आसपास

बोली जाती है। मगही का क्षेत्र मध्यवर्ती-दक्षिणी बिहार है। इसके केन्द्र पटना और गया हैं। भोजपुरी बिहार के पश्चिमी भाग तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश की भाषा है। यह हिन्दी के सबसे अधिक समीप है। यह बिहार के शाहाबाद, चम्पारन और सारन जिलों में बोली जाती है और उत्तर प्रदेश में बनारस, मिर्जापुर के पूर्वी-भाग, जौनपुर, गाजीपुर, बलिया, आजमगढ़, देवरिया, गोरखपुर, बस्ती आदि जिलों में प्रचलित है। इसके बोलने वालों की संख्या प्रायः २ करोड़ के आसपास है। भोजपुरी में यद्यपि प्राचीन साहित्य अल्प ही है परन्तु इधर भोजपुरी-प्रदेश के लोग इसके विकास की ओर अधिक ध्यान दे रहे हैं और भोजपुरी में भी कुछ साहित्य रचना होने लगी है। भोजपुरी प्रदेश के गोरखपुर में नया विश्वविद्यालय स्थापित हो जाने से भी इस विभाषा का विकास ही होगा, ऐसी आशा करनी चाहिए।

छठवाँ प्रकरण

हिन्दी का ऐतिहासिक विकास और उसके साहित्यिक रूप

हिन्दी का उदय

हिन्दी का विकास मध्य-भारतीय आर्यभाषाओं अर्थात् प्राकृत अपभ्रंश के अनन्तर हुआ है। हम पहिले ही यह स्पष्ट कर आए हैं कि ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त तक अपभ्रंश पूर्णतया साहित्यिक अभिव्यक्ति की भाषा बन गई थी अतएव यह भी स्पष्ट है कि उससे प्रायः सौ डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही अपभ्रंश के कथ्य भाषा के क्षेत्र से क्रमशः हटने तथा अन्य भाषाओं के उसका स्थान लेने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी होगी। इस बात के हमें प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। हेमचन्द्र ने 'ग्राम्य भाषा' के द्वारा इस विकसनशील कथ्य भाषा की ओर संकेत किया है। हेमचन्द्र का एक दोहा देखिए—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअह जइ भग्गा घर एन्तु॥

इसमें 'बहिणि' 'हुआ' आदि प्रयोग द्रष्टव्य हैं। इसी ग्यारहवीं शती के परार्ध में मुंज की भाषा का एक नमूना लीजिए :—

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न बेढइ कोइ॥

इस दोहे की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक स्वरूप के बड़ी समीप है। इन उदाहरणों की भाषा साहित्यिक होने के नाते इनमें कुछ शब्दों के प्राकृत रूप रूढ़ि के अनुसार मौजूद हैं, परन्तु भाषा का

ढाँचा पुरानी हिन्दी के समीप है। इस प्रकार हिन्दी के उदय का समय ईसा की ग्यारहवीं शती के लगभग मानना उचित होगा।)

हिन्दी के विकास के तीन युग

ग्यारहवीं शती से आजतक हिन्दी का निरन्तर विकास होता चला आ रहा है। विकास-क्रम के अनुसार इस लम्बे युग में इस भाषा ने कई स्तर बदले हैं। इन सबका अध्ययन करने के लिए इस विकास को निम्न युगों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) प्राचीन युग—(१५०० ई० तक) यह युग मुख्यतया पुरानी हिन्दी का है। साहित्य में पुरानी हिन्दी या अवहट्ठ का प्रयोग होता था परन्तु हिन्दी की बोलियों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं बन पाया था।

(२) मध्य-युग—(१५०० ई० से १८०० ई० तक) यह युग ब्रज, अवधी, खड़ीबोली आदि के उदय, स्वरूप-निर्माण तथा विकास का युग था।

(३) आधुनिक काल—(१८५० ई० के उपरान्त) इस युग में बोलियों के महत्व और स्थान में परिवर्तन आया। खड़ी बोली का नागरी-हिन्दी के रूप में विकास हुआ और नई भाषागत समस्याएँ सामने आईं।

अब हम इन तीनों युगों पर तनिक विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

प्राचीन-युग (१५०० ई० तक)

इस युग का प्रारम्भ अपभ्रंश के कथ्य-भाषा के क्षेत्र से उठ जाने के साथ-साथ हुआ। इसके उपरान्त जिस भाषा का विकास हुआ उसे आजकल विद्वान अवहट्ठ की संज्ञा देते हैं। इस अवहट्ठ भाषा के तीन प्रादेशिक रूप थे—पश्चिमी, मध्यदेशीय और पूर्वी। इनमें से पश्चिमी अवहट्ठ का ही विकास बाद में प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के रूप में हुआ है। मध्यदेशीय अवहट्ठ का दूसरा नाम

पुरानी हिन्दी[1] भी सुझाया गया है। इससे ही प्राचीन पिंगल भाषा का विकास माना जाता है। यह भाषा धीरे-धीरे उस युग की सामान्य साहित्यिक भाषा हो गई थी। इस भाषा के साहित्यिक नमूने हमें चारण काव्यों एवं धार्मिक तथा लौकिक काव्य-ग्रन्थों में मिलते हैं। चारण काव्य अधिकतर डिंगल भाषा में लिखे गए जिसका संबंध मूलतः पश्चिमी अवहट्ठ से माना जाता है। इस प्रकार के काव्यों में पृथ्वीराज रासो की रचना अवश्य पिंगल में हुई है परन्तु उसका वर्तमान स्वरूप बहुत बाद का संकलन है, अतः उससे उस युग की भाषा के संबंध में निश्चित जानकारी नहीं हो पाती। इसी प्रकार का हाल उस युग के अन्य कवि जगनिक के आल्ह खण्ड का है जिसकी भाषा निरन्तर गाए जाते रहने के कारण परिवर्तित हो चुकी है और विश्वसनीय नहीं है। इसके अतिरिक्त सिद्धों तथा नाथपंथियों की वाणियों में इस युग की भाषा-विषयक सामग्री मिलती है। इन ग्रन्थों में भी हमें विशुद्ध रूप से मध्यदेशीय भाषा के उदाहरण नहीं मिलते वरन् कुछ पूर्वी प्रभाव युक्त भाषा के स्वरूप के दर्शन होते हैं। बात यह है कि मध्यदेश के दो बड़े-बड़े राज्यों—दिल्ली के चौहान राज्य; कन्नौज के राठौर राज्य—में लौकिक भाषा के स्थान पर संस्कृत, प्राकृत आदि का अधिक सम्मान रहने के कारण इस क्षेत्र में लौकिक भाषा को राज्याश्रय नहीं मिल पाया था। इस युग की अन्य सामग्री हिन्दी के शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों में मिलती है।[2] विदेशी शासन हो जाने के कारण इनमें भी हिन्दी का प्रयोग कम हुआ है, अतएव इनमें भी अधिक सामग्री नहीं मिलती। तात्पर्य यह है कि प्रायः चौदहवीं शती तक प्रयुक्त होने

---

१. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी—पृष्ठ ११-१३

२. देखिए श्री हीरालाल जी का "हिन्दी के शिलालेख और ताम्रलेख" शीर्षक लेख (नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ६ सं० ४)

वाली पिंगल भाषा को ही हम पुरानी हिन्दी के नाम से पुकारते हैं। इसी से चौदहवीं शती के अन्त तक ब्रज, अवधी, खड़ी बोली आदि का उदय हो चला था। इस युग के अन्त के लगभग दिल्ली में अमीर खुसरो नामक कवि हुआ। इसने उस युग की बोलचाल की भाषा में कुछ पहेलियाँ, मुकरियाँ तथा फुटकर रचनाएँ की हैं। उसकी भाषा से अवश्य यह पता लगता है कि उस युग तक प्रादेशिक बोलियों का उदय हो आया था। अमीर खुसरो की भाषा का उदाहरण देखिए—

एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा॥
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे॥

अमीर खुसरो की यह भाषा उस समय की दिल्ली के आसपास के प्रदेश की बोलचाल की भाषा है। इससे पता चलता है कि बोलचाल में प्रादेशिक बोलियों के स्वरूप का उदय उस युग तक हो आया था।

मध्य-युग (१५०० से १८०० ई० तक)

इसके बाद हिन्दी के विकास का दूसरा युग आता है। इस समय तक हिन्दी-प्रदेश में तीन प्रमुख बोलियों का उदय हो चुका था। एक तो थी खड़ी बोली, जो दिल्ली, मेरठ, बिजनौर के आस-पास की बोली थी; दूसरी थी ब्रज, जिसका केन्द्र मथुरा के आसपास का प्रदेश था और तीसरी अवधी थी जिसका केन्द्र उस समय का अवध-प्रदेश था। इनमें से ब्रज और अवधी तो क्रमशः कृष्ण-भक्त कवियों तथा राम-भक्त कवियों की काव्यरचना के माध्यम के रूप में मध्ययुगीन साहित्य में प्रतिष्ठित स्थान पा गईं, परन्तु खड़ीबोली का भाग्य इतना अच्छा न ठहरा। मुसलमान विजेता जिस समय दिल्ली में बसे, वे केवल मुसलमानी भाषाएँ जानते थे। उनके सामने दैनिक व्यवहार के लिए किसी न किसी भाषा को माध्यम चुनने की

समस्या थी और उन्होंने अपने आसपास की बोली—खड़ीबोली को एतदर्थ चुन लिया। इस प्रकार खड़ी बोली जन्म लेते ही विदेशियों और विजातियों के संसर्ग में पड़ गई। इतना ही नहीं मुहम्मद तुगलक के दक्षिण अभियान के बाद से यह भाषा, जिसे मुसलमान 'हिन्दवी' कहते थे, दक्षिण चली गई और वहीं अठारहवीं शती तक मुसलमान लेखकों और कवियों के हाथों इसका विकास हुआ। इस प्रकार साहित्य-रचना की दृष्टि से यह हिन्दी-भाषी क्षेत्र के सम्पर्क से बाहर तो हो ही गई, मुसलमानों के दैनिक जीवन के व्यवहार की भाषा बन जाने के कारण हिन्दुओं के द्वारा उपेक्षणीय भी बनी रही। इसी से कालान्तर में उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई, जिसके मूल में दक्खिनी का विकास था और इसके बोल-चाल वाले उत्तर भारतीय रूप से बाद को खड़ी बोली हिन्दी या नागरी हिन्दी का विकास हुआ।

मध्य-युग के प्रथम भाग में अवधी और ब्रज दो मुख्य साहित्यिक भाषा-रूपों का विकास हुआ। अवधी भाषा का काव्य क्षेत्र में सर्वप्रथम उपयोग जायसी ने 'पदुमावत' में किया और तुलसी ने रामचरित मानस में उसके स्वरूप का परिष्कार किया और उसे साहित्यिक भाषा की पूर्णता तक पहुँचाया। तुलसी के रामचरितमानस का तो घर-घर में प्रचार हो गया परन्तु अवधी का वैसा प्रचार न हो पाया। इसका एक कारण यह भी था कि भक्तिकालीन काव्य में तुलसी के अतिरिक्त अधिकांशतः कृष्णभक्ति शाखा के कवियों का प्राधान्य था, जो स्वभावतः ब्रज के हिमायती थे और अपनी साहित्यिक कृतियों में अनिवार्यतः ब्रज का उपयोग करते थे। मध्य-युग के पूर्वार्ध में दूसरी भाषा, जिसका विशेष विकास हुआ, ब्रज थी। ब्रज-भाषा लौकिक भाषा से साहित्यिक भाषा के महत्वपूर्ण स्थान तक भक्त प्रवर सूरदास के द्वारा पहुँचा दी गई। सूरदास का रचनाकाल प्रायः १५५० तक समाप्त हो चुका था। इसके बाद तुलसी और

मुख्यतः नन्ददास ने इसका परिमार्जन किया। इसके पश्चात् तो प्रायः सभी भक्तिकालीन साहित्य ब्रजभाषा में ही लिखा गया। मध्य-युग के उत्तरार्ध तक ब्रजभाषा का साहित्य इतना विकसित हो गया था कि वह प्रायः सम्पूर्ण हिन्दी-प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई थी और सुदूर राजस्थान से पूर्वी उत्तर प्रदेश तक उसका साहित्य में प्रयोग होने लगा था। यद्यपि इन दूरवर्ती स्थानों के कवियों की ब्रजभाषा में प्रान्तीय प्रयोग भी मिल जाते हैं परन्तु अपनाया सभी ने ब्रजभाषा को ही है। रीतिकालीन साहित्य तो पूरे का पूरा इसी ब्रजभाषा में ही लिखा गया है। यह ब्रजभाषा निश्चित ही उस युग की बोलचाल की ब्रज से भिन्न थी। भले ही सूरदास ने जिस भाषा का उपयोग किया था, वह बोल चाल की ब्रज पर आधारित रही हो परन्तु बाद के कवियों ने तो उसके साहित्यिक स्वरूप का व्यवहार किया है। ब्रजभाषा का जो स्फुट गद्य मिलता है उसमें भी साहित्यिक ब्रज के ही नमूने मिलते हैं।

खड़ी बोली-हिन्दी या हिन्दवी का विकास इस युग में निरन्तर दक्षिण में होता रहा। यह भाषा साहित्य-रचना के लिये प्रयुक्त होने पर भी 'दक्खिनी हिन्दी' या केवल 'दक्खिनी' भर कहलाती रही। इसके विकास का उल्लेख हम अभी आगे करेंगे।

आधुनिक-युग (१८०० ई० से आज तक)

अठारहवीं शताब्दी का अन्त होते न होते भाषा के क्षेत्र में नए विकास और परिवर्तन के लक्षण दिखलाई पड़ने लगते हैं। इस समय तक दिल्ली का मुगल शासन निर्बल हो गया था। राज्य-सत्ता का देशी नरेशों में विकेन्द्रीकरण हो गया था। अंग्रेज लोग साम्राज्य-स्थापन का प्रयास कर रहे थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथमार्ध का इतिहास अंग्रेजी साम्राज्य के अभ्युदय और उसकी जड़ें जमने का इतिहास है। इन राजनैतिक परिवर्तनों ने भाषा के क्षेत्र

में भी प्रभाव डाला। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक व्रजभाषा की शक्ति क्षीण हो गई थी, वह बँधी बँधाई लीक पर चलने वाली काव्य-भाषा बन गई थी, जिसमें नए युग के नए विचारों की अभिव्यक्ति की शक्ति न रह गई थी। इधर मुसलमानों के बीच खड़ी बोली-उर्दू जोर पकड़ रही थी। विदेशी अंग्रेजों को भी, जो इस समय तक व्यापारी के स्थान पर विजेता और शासक बन चुके थे, एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी, जो उनके समस्त भारतीय साम्राज्य में बोली और समझी जा सके और जिसका ज्ञान विदेश से आने वाले अफसरों को कराया जाय। अतएव हिन्दी गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली के उपयोग के प्रयोग फोर्ट विलियम कालेज में कराए गए और लल्लूलाल जी का 'प्रेम सागर' और सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' सामने आए। इसी समय इंशाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' 'हिन्दवी' में लिखी। यह भाषा वास्तव में वही भाषा थी जिसका प्रथम आभास हमें अमीर खुसरो की रचनाओं में मिलता है और डा० ग्रियर्सन का यह मत कि लल्लूलाल जी ने डा० गिलक्रिस्ट की प्रेरणा तथा संरक्षकता में एक नई भाषागढ़ी,[1] बिल्कुल असंगत और अनुपयुक्त है।

धीरे धीरे खड़ी बोली का उपयोग हिन्दी गद्य में बढ़ता गया। साथ ही हिन्दी के लेखक इस बात का भी निरन्तर ध्यान रखते रहे कि उनकी भाषा का स्वरूप मिश्रित या विकृत न हो। उनके इस प्रयास के फलस्वरूप और कुछ राजनैतिक कारणों से मुसलमानों ने इसका विरोध करना शुरू किया। इस कार्य में उन्हें भेद-नीति के

---

१ "Such a language did not exist in India before..... when, therefore, Lallulal wrote his Prem-Sagar in Hindi, he was inventing an altogether new language".
—डॉ० ग्रियर्सन—लालचन्द्रिका की भूमिका।

अनुयायी अंग्रेज शासकों से बड़ी सहायता मिली। अंग्रेजों ने हिंदी की उपेक्षा करके उर्दू को कचहरियों तथा कार्यालयों की भाषा स्वीकार कर लिया। भारतेन्दु जी ने इसके विरुद्ध आन्दोलन किया और 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' का मंत्र फूँका। यह भाषा विषयक आन्दोलन प्रबल हो गया और हिन्दी को राज्याश्रय न मिलने पर भी जनता का आश्रय मिला। राष्ट्रीय जागृति के साथ साथ हिन्दी का प्रसार हुआ और बीसवीं शती के प्रारम्भ में गद्य के साथ साथ खड़ी बोली हिन्दी पद्य की भी भाषा हो गई और इस प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भाषागत एक रूपता आ गई।

भारत में बीसवीं शती का इतिहास राष्ट्रीय संग्राम का इतिहास है। राष्ट्रीयता की भावना ने एक ऐसी भाषा की आवश्यकता की ओर संकेत किया जो अन्तर्प्रान्तीय विनिमय की भाषा बन सके और हिन्दी को इसका उचित माध्यम माना गया परन्तु, कुछ ही समय बाद महात्मा गाँधी की समझौतावादी नीति ने हिन्दुस्तानी भाषा को सामने ला खड़ा किया। यह नाम यद्यपि पुराना था, परन्तु इसमें अर्थ नया भरा गया। इसमें ऐसे शब्दों को भरने का प्रयास किया गया जो हिन्दी तथा फारसी के हों। परन्तु यह खिचड़ी भाषा न चल सकी। भाषा तो स्वतः विकसित होती है, वह गढ़ी नहीं जाती। अतः अपने प्रभाव के चरम युग में महात्मा गांधी जैसा व्यक्ति भी इस कृत्रिम भाषा को न चला पाया। सन् १९४७ में भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् जब नई संविधान सभा बैठी राष्ट्रभाषा का प्रश्न उठा तो हिन्दी—नागरी-हिन्दी—को उसका उचित प्राप्य मिला और हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया गया तथा व्यवहार क्षेत्र में उसके अपनाए जाने के लिए पन्द्रह वर्ष की अवधि रखी गई। इस स्पष्ट व्यवस्था के बाद भी अभी देश में कुछ ऐसे लोग मौजूद हैं, जो हिन्दी की यह न्यायपूर्ण उपलब्धि नहीं सहन कर पाते परन्तु ऐसे पुरातनताप्रिय, रूढिवादी तथा संकीर्ण मनोवृत्ति के

कुछ लोग भाषा के स्वाभाविक प्रवाह को रोक लेंगे, यह असंभव है।

संक्षेप में हिन्दी के विकास का यही इतिहास है। हिन्दी पर अब बड़ा उत्तरदायित्व है और हिन्दी को उसके अनुकूल बनाना हिन्दी-सेवियों का पुनीत कर्तव्य है। हिन्दी के इस विकास के साथ-साथ हिन्दी की प्रादेशिक बोलियाँ और स्थानीय बोलियाँ भी निरन्तर विकास कर रही हैं और ब्रज, बुन्देलो, खड़ीबोली, भोजपुरी आदि निरन्तर समृद्धि के पथ पर अग्रसर हो रही हैं।

हिन्दी के साहित्यिक रूप

हिन्दी के लिए मध्य युग से लेकर आज तक बहुत से नाम प्रयुक्त होते रहे हैं। साथ ही उसके कई साहित्यिक रूप और शैलियाँ रही हैं और हैं। अब हम संक्षेप में हिन्दी के प्रमुख रूपों तथा भाषागत शैलियों का परिचय देंगे।

दक्खिनी या दक्खिनी हिन्दी

हम पहले बता आए हैं कि जिस समय मुसलमान भारतवर्ष में आए, उनके सामने यहाँ के निवासियों से व्यवहार करने के लिए एक भाषा की आवश्यकता की समस्या आई। वे अपने साथ उर्दू और फारसी लाए थे परन्तु उससे तो काम चल नहीं सकता था। अतः उन्होने दिल्ली के आसपास की बोल-चाल की भाषा को अपना लिया और उसे हिन्दी, हिन्दुई, हिन्दवी आदि कहना शुरु किया। तेरहवीं शताब्दी में मुहम्मद तुगलक के दक्षिण अभियान के साथ जो साहित्यकार उसके साथ दक्षिण गए, उनमें से कुछ वहीं रह गए। ये लोग वहाँ राज्याश्रय में फूलते-फलते रहे। बहमनी राज्य में तथा उसके नष्ट हो जाने के बाद स्थापित बीजापुर, गोलकुण्डा, बीदर, बरार और अहमद नगर की मुसलमानी सल्तनतों ने अपने यहाँ दक्खिनी को ही राज्यभाषा बना रखा था क्योंकि उनकी जनता और प्रजा फारसी, अरबी के सम्पर्क से भी बहुत दूर थी। वहाँ पर दक्खिनी

के प्रथम साहित्यकार ख्वाजा बन्दानवाज़ गेसू दराज मुहम्मद हुसैनी हुए। इसके उपरान्त तो अब्दुल्ला हुसैनी, निजामी, वजही, गवासी, निशाली, गुलाम अली, कुतुबशाह आदिलशाह, शाहमीरांजी, जानिम, मुकीमी, सनाती, रुस्तमी, नसरती आदि बहुत से उत्कृष्ट कोटि के कवियों तथा गद्यकारों ने प्रायः १० वीं शती के अन्त तक दक्खिनी के साहित्य को भरा। इन लोगों ने जिस दक्खिनी को अपनाया उसमें अरबी, फारसी के शब्द भी बहुत अल्प मात्रा में थे। इनकी व्याकरण का प्रभाव तो था ही नहीं। इस युग की दक्खिनी की भाषा विषयक कुछ विशेषताएँ निम्न हैं [1]—

(१) संज्ञाओं के सभी कारकों के विकारी रूपों में बहुवचन में अकारान्त शब्दों के रूप 'आँ'-कारान्त हो जाते थे और इकारान्त—ईकारान्त के रूप या-कारान्त हो जाते थे, जैसे—बात से बाताँ, अपनी से अपनियाँ आदि।

(२) कर्त्तृवाचक परसर्ग 'ने' का प्रयोग शुरू हो गया था, परन्तु भूतकालिक सकर्मक क्रिया के साथ ही इसका प्रयोग निश्चित न था, वरन् अकर्मक क्रियाओं तक के साथ 'ने' लगा दिया जाता था।

(३) कर्म कारक का परसर्ग 'कों' था।

(४) करण-अपादान परसर्गों में 'सो' की प्रधानता थी यद्यपि से, सेंती, सेंते, आदि भी प्रयुक्त होते थे।

(५) सम्प्रदान के लिए 'तईं' के अतिरिक्त एक नया परसग 'खातिर' भी प्रयुक्त होता था।

(६) संबंध कारक के परसर्ग केरा, केरी, केरे का अधिक प्रयोग था यद्यपि 'की 'के' 'का' का भी प्रयोग होता था।

(७) अधिकरण कारक का परसर्ग 'में' था।

---

१ दक्खिनी हिन्दी की इन विशेषताओं की सामग्री के लिए लेखक ने डा० बाबूराम सक्सेना की दक्खिनी हिन्दी से सहायता ली है।

(८) सामान्य-वर्तमान में कृदन्त-तद्भव रूप— होता, होती, होते आदि चल निकले थे।

(९) भूतकालिक क्रिया में दौड़ाए, पैदा किया आदि के अलावा कह्या, बोल्या, सुन्या आदि भी प्रचलित थे।

(१०) भविष्यत काल के लिए 'गा' 'गे' 'गी' का प्रयोग होता था।

(११) सहायक क्रियाओं में हैं, हो, हूँ, था, थे, थी, होगा, होगे होंगे, के साथ ही हौंगा, हैंगी प्रयोग भी होते थे।

(१२) प्रेरणार्थक क्रिया में प्राचीन रूपों के साथ साथ 'दिखलाता' जैसे रूप भी प्रयोग में आ गए थे।

सत्रहवीं शताब्दी में वली औरंगावादी की दिल्ली यात्रा के बाद से दक्खिनी में नया मोड़ आया। अभी तक भाषा में अरबी फारसी का प्रभाव शब्द भंडार तथा व्याकरण—दोनों दृष्टियों से बड़ा अल्प था, परन्तु अब एकाएक अरबी-फारसी के प्रति बड़ा झुकाव शुरु हुआ। हैदराबाद की निज़ामी के साथ यह फारसी असर और बढ़ा और धीरे-धीरे दक्खिनी पर भी विदेशी रंग चढ़ गया। हैदराबाद में निज़ामी सल्तनत की राज्य-भाषा इसे ही बनाया गया और राजकीय संरक्षण के बाद इसका प्रभाव और प्रचार भी स्वतः बढ़ा। भारतीय गणतंत्र में आने के बाद भी इस ओर उर्दू का ही रिवाज और चलन है।

हिन्द्वी, हिन्दवी, हिन्दुई

वली औरंगावादी की दिल्ली यात्रा का यह परिणाम निकला कि दिल्ली के साहित्यकार दक्खिनी से परिचित और प्रभावित हुए। उन्होंने इसे अपनाया। दिल्ली और उसके आसपास के शिष्ट और शिक्षित मुसलमानों की बोलचाल तथा हल्के फुल्के साहित्य की रचना की भाषा हिन्द्वी, हिन्दवी या हिन्दुई कहलाई।[1] इंशाअल्ला खाँ

१. पं० चन्द्रबली पाण्डेय—उर्दू का रहस्य—पृष्ठ ४०-४८

ने इसी में अपनी 'रानी केतकी की कहानी' लिखी है। उनके अनुसार हिन्दवी में 'किसी अन्य भाषा की छुट' नहीं है। इस 'अन्य भाषा' से उनका अभिप्राय फारसी, अरबी से ही है। साथ ही इस विषय में उन्होंने उस भाषा को प्रमाण माना है जो भले लोग, अच्छों से अच्छे, आपस में बोलते चालते हैं। इंशा खाँ के अनुसार ये भले लोग दिल्ली के चुने हुए लोग हैं जिनमें अधिकांश मुसलमान ही हैं।[1] अतएव स्पष्ट है कि यह शिष्ट हिन्दू-मुसलमानों की भाषा थी, केवल हिन्दुओं की नहीं।

उर्दू

उर्दू भाषा का विकास भारतवर्ष में मुसलमानों, विशेषतः मुगलों, के आगमन के बाद हुआ। उर्दू एक तुर्की शब्द है। इसका अर्थ है शाही खेमा या भवन। इस अर्थ में यह शब्द बाबर के साथ हिन्दुस्तान में आया और दिल्ली का राजभवन 'उर्दू-ए-मुअल्ला' या महान् शिविर कहलाने लगे। इसी दरबार और शिविर में एक मिश्रित भाषा का जन्म हुआ जिसे जबान-ए-उर्दू कहा जाने लगा। उर्दू के इस प्रकार के विकास की पुष्टि में पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने अपने ग्रंथों और लेखों 'उर्दू का रहस्य', 'उर्दू की जबान', 'उर्दू का उद्गम' में पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। सैयद इंशाअल्ला खाँ ने 'दरिया-ए-लताफत' में एक स्थान पर कहा है—

"यहाँ (शाह जहानाबाद) के खुशबयानों ने मुत्तफ़िक होकर मुताद्दिक़ ज़बानों से अच्छे-अच्छे लफ़्ज़ निकाले और बाज़ी इबारतों

---

१. पं० चन्द्रबली पाण्डेय—उर्दू का रहस्य—पृष्ठ ४०-४८ में "सैयद इंशा की हिन्दवी छुट" के अन्तर्गत 'दरिया-ए-लताफत' का उद्धरण।

और अल्फ़ाज़ में तसर्रुफ़ करके और ज़बानों से अलग एक ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखा।"[१]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उर्दू जन-साधारण की भाषा नहीं रही। वरन् इसका विकास तो राजभवन और राजदरबार में हुआ है। इस बात को 'फरहंगे आसफिया' का लेखक स्वयं स्वीकार करता है कि "असली उर्दू शाहज़ादगाने तैमूरिया की ही ज़बान है और लाल क़िला ही उस ज़बान की टकसाल है, इसलिए सैयद खास हमें और चन्द और अज़ीज़ शाहज़ादों को बुलाते थे, आम से गर्ज़ न थी।"[२] इतना ही नहीं, सैयद मौलवी अहमद देहलवी तो यह विचार रखते हैं कि इनके अलावा जो उर्दू "हिन्दोस्तान के ईसाइयों, नव-मुसलिम भाइयों·····और छावनियों के सरबेझड़े वाशिदों ने अख्तियार कर रखी है" वह उर्दू नहीं है वरन उनके शब्दों में तो "हमारे ज़री कुल्लवा दोस्तों ने मज़ाक में इसका नाम पुड़दू रख दिया है।"[३] इस प्रकार स्पष्ट है कि उर्दू का विकास एक शाही वातावरण में, शाही संरक्षण में हुआ है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि आखिर उर्दू का विकास किस भाषा के आधार पर हुआ। मुहम्मद-हसन आज़ाद ने अपने ग्रन्थ 'आबे हयात' में यह विचार व्यक्त किया है कि "इतनी बात तो हर शख़्स जानता है कि हमारी ज़बान ब्रज भाषा से निकली है और ब्रज भाषा

---

१. पं० चन्द्रबली पाण्डेय—उर्दू की जबान—पृष्ठ ६ पर 'दरिया-ए-लताफत' का उद्धरण।

२. श्री अरशद गोरगानी—फरहंगे आसफिया, तक़ारीज, भाग ४, पृष्ठ ८४५.

३. श्री अरशद गोरगानी—फरहंगे आसफिया, तक़ारीज, भाग १, पृष्ठ २३.

ख़ास हिन्दुस्तानी ज़बान है।[1]" मीर अम्मन देहलवी ने भी प्रायः इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है। श्री कैफी साहब ने कहा है कि "शौरसेनी-प्राकृत में विदेशी शब्द के सम्मिश्रण से ही उर्दू की उत्पत्ति हुई।.....कतिपय भाषाशास्त्रियों के अनुसार खड़ी बोली में फारसी शब्दों के सम्मिश्रण से ही उर्दू की उत्पत्ति हुई है।"[2] सर ज़ार्ज ग्रियर्सन ने ठेठ-हिन्दुस्तानी से ही साहित्यिक-उर्दू और साहित्यिक हिन्दी की उत्पत्ति मानी है। तात्पर्य यह है कि "उर्दू ज़बान एक वर्ग-विशेष की भाषा है और यह नितान्त कृत्रिम ढंग से हिन्दुस्तानी अथवा ठेठ हिन्दी या खड़ी बोली में अरबी, फारसी शब्दों और मुहाविरों का सम्मिश्रण करके बनाई गई है।[3]

ठेठ-हिन्दी से उत्पन्न होने पर भी मुसलमानी तथा दरबारी वातावरण में विकसित होने के कारण इसकी साहित्यिक परम्पराएँ, साहित्यिक रूढ़ियाँ, शब्द-समूह, व्याकरण तथा लिपि आदि सभी नितान्त विदेशी हो गए हैं। मुसलमानी राज्य में तो शासकों की भाषा होने के नाते इसे प्रश्रय मिला ही था, अंग्रेजी शासन-काल में भी शासकों के द्वारा सम्प्रदायिक भेद नीति बर्तने के कारण उर्दू को ही बढ़ावा दिया जाता रहा। साथ ही उर्दू में राष्ट्रीय आन्दोलन के युग में साम्प्रदायिक भावनाओं तथा भेदवादी विचारों की अभिव्यक्ति के कारण यह भाषा पढ़े लिखे तथा राष्ट्रीय विचार-धारा के हिन्दुओं के हृदयों से निरन्तर उतरती गई। यह प्रसन्नता की बात होगी यदि अब भी उर्दू के विद्वानों तथा समर्थकों को यह समझ आ जाय कि भारतवर्ष में उर्दू का भविष्य तभी है जब वह भारतीय वातावरण के अनुकूल अपने आपको बनाले।

---

१. मुहम्मद हसन—आबेहयात—(ज़बान उर्दू की तारीख़) पृष्ठ ६

2. Proceedings and Transactions of All India Oriental Conference 1951-Page-24.

३. डा० तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास-पृष्ठ २०५

रेख्ता रेख्ती

रेख़्ता हिन्दी की वह शैली है जिसमें फारसी शब्दों का मिश्रण है। रेख़्ता और उर्दू पर्यायवाची नहीं हैं, वरन् उर्दू को रेख़्ता की एक शैली मात्र ही कहा जा सकता है। वास्तव में रेख़्ता पुरुषों की भाषा कहलाती है और रेख़्ती स्त्रियों की। भाषा के अर्थ में रेख़्ता का प्रयोग 'उर्दू' से अधिक प्राचीन भी है।

हिन्दुस्तानी

हिन्दुस्तानी शब्द के सम्बन्ध में यह सामान्य धारणा है कि इसका भाषा के अर्थ में प्रचार योरोपीय लोगों ने किया है परन्तु बात ऐसी नहीं है। ललिता प्रसाद शुक्ल का विचार है कि भाषा के अर्थ में हिन्दुस्तानी नाम ईरानियों और तुर्कों के साथ १५वीं, १६वीं शताब्दी में ही यहाँ आ गया था। श्री शुक्ल के इस कथन की पुष्टि हाब्सन-जाब्सन के १६१६ ई० के एक प्रसंग के उल्लेख से हो जाती है। हाब्सन-जाब्सन के अनुसार यह "उत्तर के मुसलमानों की भाषा है। आगरा तथा दिल्ली के आस-पास की हिन्दी, फारसी तथा अन्य विदेशी शब्दों के मिश्रण से यह विकसित हुई है। ××× पुराने एंग्लो इण्डियन इसे 'मूर' कहा करते थे।"[1] इस मूर भाषा के विषय में उसी का उल्लेख पुनः देखिए—"मूर भाषा की लिपि संस्कृत तथा

---

1. "(Hindutani Zaban), the language of that country, but in fact the language of the Mohammedans of upper India, developed out of the Hindi dialect of Doab, chiefly, and of the territory round Agra and Delhi, with a mixture of Persian vocables and phrases and with a readiness to adopt other foreign words "××× old fashioned Anglo Indians used to call it the Moors.—(Hobson Jobson P, 317).

बंगला से भिन्न है। इसे नागरी कहते हैं।"[1] स्पष्ट है कि १९वीं शती के प्रारम्भ के पूर्व तक हिन्दी को ही हिन्दुस्तानी के नाम से पुकारा जाता था परन्तु उन्नीसवीं शती में इसका अर्थ बदल कर उर्दू हो गया और यही बात हाब्सन-जाब्सन में भी कही गई है "इसका दूसरा नाम उर्दू भी है।"[2] यह नया अर्थ अंग्रेजों ने जानबूझ कर दिया था। इसमें राजनैतिक भेद-बुद्धि को उत्पन्न करने तथा प्रोत्साहित करने का उद्देश्य छिपा था। उन्होंने हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू को प्रोत्साहन देकर उर्दू-हिन्दी का एक ऐसा विवाद उत्पन्न किया जो आज तक नहीं शमित हो पाया यहाँ तक कि डा० ग्रियर्सन जैसे भाषाविद् ने भी इस विषय में ठीक-ठीक ज्ञान न करके यही लिख दिया कि "हिन्दुस्तानी मुख्यरूप से गंगा के ऊपरी दोआब की भाषा है। यह भारत की अन्तर्प्रादेशिक व्यवहार की माध्यम है और फारसी तथा देव नागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सकती है। साहित्य में प्रयुक्त होने पर इसमें फारसी तथा संस्कृत दोनों के शब्दों को बचाया जाता है।"[3] इस प्रकार ग्रियर्सन साहब के अनुसार हिन्दुस्तानी भारत की स्वाभाविक और अकृत्रिम भाषा ठहरती है। ऐसी भाषा कैलाग के अनुसार केवल ठेठ या सरल हिन्दी ही थी।

---

1. "The language called "Moors" has a written character differing both from the Sanskrit and Bengali character. It is called Nagari." Hobson Jobson PP. 448.

2. "It is also called Ordoo."--(Hobson-jonson-PP. 317.

3. "Hindustani is primarily the language of the Upper Gangatic Doab, and is also the lingua franca of India, capable of being written in both Persian and Devanagari characters, and without purism, avoiding alike the excessive use of either Persian, or Sanskrit words, when employed for literature (Linguistic Survey of India, Vol IX, Part I—Page 47).

केवल बड़े-बड़े नगरों में लोग फारसी मिश्रित-हिन्दी का व्यवहार करते थे। स्पष्ट है कि ग्रियर्सन की हिन्दुस्तानी की रूपरेखा यही ठेठ हिन्दी थी जिसको कैलाग ने उत्तरी भारत की भाषा ठहराया है।[1] परन्तु फिर भी हिन्दुस्तानी के स्वरूप के विषय में विवाद बना ही रहा क्योंकि शासक वर्ग हिन्दुस्तानी के नाम पर दिन प्रति दिन उर्दू को प्रोत्साहन दे रहा था। अन्ततः यह विवाद कांग्रेस के सामने आया। कांग्रेस ने प्रायः सन् १९२६ में हिन्दी को स्वीकार कर लिया था परन्तु उस समय अपने व्यवहार की भाषा का नाम हिन्दुस्तानी ही रखा था। यह बात स्पष्ट थी कि हिन्दुस्तानी से कांग्रेस का अभिप्राय हिन्दी से था जैसा कि राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति की नीति से स्पष्ट था, जो कांग्रेस द्वारा अनुमोदित भाषा के प्रचारार्थ बनाई गई थी। हिन्दी के इस प्रचार-प्रसार से उर्दू वालों को चिन्ता उत्पन्न हुई और उन्होंने हिन्दी-विरोधी आन्दोलन शुरू किया। अपनी समझौतावादी नीति के कारण गांधी जी ने उर्दू के पक्षपातियों तथा हिन्दी-विरोधियों की तसल्ली के लिए हिन्दुस्तानी भाषा को स्वीकार कर लिया जिसमें पचास फी सदी शब्द फारसी के और बाकी हिन्दी के हों और जो फारसी और नागरी दोनो लिपियों में लिखी जा सके। इसका प्रचार बाकायदा होने लगा परन्तु भाषा तो स्वतः विकसित होती है गढ़ी नहीं जाती और गांधी जी भी इस प्रकार की भाषा को सामान्य जनता के द्वारा अंगीकार न करवा सके। सन् १९४७ में देश की स्वतंत्रता के बाद हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा का पद प्रदान किया गया और यह विवाद शमित हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दुस्तानी से पहले अभिप्राय ठेठ-हिन्दी या सरल हिन्दी से ही रहा है परन्तु राजनैतिक कारणों से प्रोत्साहन पाकर उन्नीसवीं शती के अंत और बीसवीं

---

१. डा० तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ९२, में उद्धृत कैलाग का कथन।

के पूर्वार्ध में हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू ने हिन्दी से राष्ट्रभाषा का पद छीनने का बड़ा प्रयास किया परन्तु वह सफल न हुई और उर्दू-मिश्रित-हिन्दुस्तानी का प्रश्न तो अब समाप्त ही हो गया।

नागरी-हिन्दी

नागरी-हिन्दी से हमारा अभिप्राय हिन्दी भाषा के उस स्वरूप से है जो आज समस्त उत्तरी-भारत में अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार का माध्यम है और जो संविधान के द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत है। यह खड़ी बोली—हिन्दी के आधार पर विकसित हुई है परन्तु दिल्ली और मेरठ के आस-पास बोली जाने वाली खड़ी बोली से पर्याप्त भिन्न है। इसका उपयोग उत्तरी-भारत में तो होता ही है, दक्षिण में भी इसे अब समझ लिया जाता है। यह भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और आवश्यकतानुसार यह संस्कृत तथा अन्य प्रादेशिक बोलियों से पारिभाषिक शब्दावली आदि अपना रही है। राष्ट्रभाषा के रूप में इसके समस्त भारत में प्रयुक्त होने के फलस्वरूप इसके स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन और विकास होने की संभावना है। इसका देशव्यापी प्रसार हो जाने पर इसमें प्रांतगत प्रभावों के फलस्वरूप विभिन्न प्रांतीय विशेषताओं के आ जाने की सम्भावना है। यदि ध्यान न दिया गया, तो इसके भाषा की आंतरिक एकता के समाप्त हो जाने की भी सम्भावना हो सकती है इसलिए इस विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता है और इसे समस्त देश में प्रसारित और स्वीकृत किए जाने के लिए हिन्दी वालों को अथक श्रम तथा प्रयत्न की आवश्यकता है। इसका भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है। यद्यपि आज भी बंगाल में तथा सुदूर दक्षिण में इसका विरोध किया जा रहा है परन्तु कालान्तर में यह विरोध शमित हो जायगा और तब यही भाषा समस्त देश को एकता के सूत्र में उसी प्रकार आबद्ध करेगी, जैसे अभी तक अंग्रेजी करती रही है, जिसका स्थान यह भाषा अब ले रही है।

आठवाँ प्रकरण

हिन्दी की ध्वनियाँ

ध्वनि-विज्ञान का वर्ण्य विषय :

हम प्रारम्भ में भाषा की परिभाषा के अन्तर्गत कह आए हैं कि भाषा ध्वनि-संकेतों का समूह है। ये ध्वनियाँ ही वास्तव में भाषा की मूल आधार हैं। किसी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए हमें उस भाषा-विशेष की ध्वनियों का अध्ययन करना आवश्यक होता है। इस अध्ययन के अन्तर्गत हम पहले यह देखते हैं कि उस भाषा में कौन कौन सी ध्वनियाँ हैं और उन्हें किन किन उच्चारणोपयोगी अवयवों से उच्चारित किया जाता है। इसके बाद हम उनका समुचित वर्गीकरण और विश्लेषण करते हैं तथा उनका ध्वन्यात्मक-विवरण (Phonetic description) बनाते हैं। किसी भी भाषा की ध्वनियों की उत्पत्ति भाषणावयवों के सहारे होती है। ये भाषणावयव स्वरतंत्रियों से लेकर मुख विवर और नासिका-विवर तक के वे अंग होते हैं, जो ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होते हैं। इनसे ध्वनियाँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं, इसका अध्ययन करने से पूर्व, इन भाषणावयवों की बनावट की जानकारी करना नितान्त आवश्यक है। अतएव अब हम संक्षेप में ध्वनि-यंत्र के स्वरूप, उसकी बनावट और उसके विभिन्न अंगों का परिचय देंगे।

भाषणावयव :

ध्वनि-यंत्र का विस्तार स्वरतंत्रियों से लेकर ओष्ठों तक तथा नासिका-विवर तक है। इसके अन्तर्गत निम्न अंग आते हैं:—

१ अभिकाकल
२ कौआ
३ कण्ठ
४ तालु
५ कठोर तालु या मूर्धा
६ वर्त्स
७ दन्त
८ ऊपरी ओष्ठ
९ नीचे के ओष्ठ
१० जिह्वानीक

११ जिह्वाग्र	१७ श्वास-मार्ग
१२ जिह्वोपाग्र या जिह्वामध्य	१८ अन्नमार्ग
१३ जिह्वापश्च	१९ फुफ्फुस
१४ जिह्वामूल	२० नासिका-विवर
१५ स्वरतंत्रियाँ	२१ मुख-विवर
१६ कण्ठपिटक	

इन अंगों का ठीक ठीक परिचय चित्र सं० १ देखकर प्राप्त किया जा सकता है।

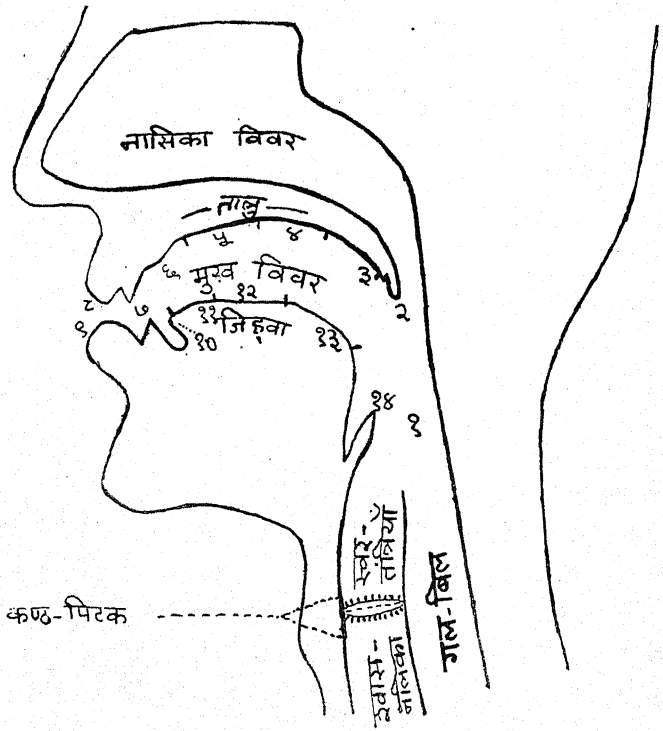

ध्वनि यंत्र – चित्र सं० १

भाषणावयवों की बनावट का परिचय

जब फुफ्फुस से बाहर आने वाली वायु स्वरतंत्रियों से होकर बाहर आती है और मुखविवर में विभिन्न भाषणावयवों के सहारे स्पर्श एवं घर्षण आदि करते हुए या किसी अन्य प्रकार से निकल जाती है तो विभिन्न ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः प्राण-वायु के दो प्रकार हैं—आगमित प्राण-वायु या श्वास और निर्गत प्राण-वायु या प्रश्वास। साधारणतः ध्वनियों का उच्चारण प्रश्वास से ही होता है। वह निर्गत वायु फेफड़ों से चलकर श्वास नलिका से होते हुए कण्ठपिटक में आती है। कण्ठपिटक गले का वह साभाग है जिसे हम ग्रामीण बोली में 'टेंटुआ' कहते हैं। पुरुषों के गले में यह बाहर से ही उभरा हुआ दिखाई पड़ता है। यह एक पिटक अर्थात् पिटारी के सदृश होता है। इसमें भीतर की ओर स्वर-तंत्रियाँ होती हैं। ये श्वास नलिका में ऊपर की तरफ दोनों ओर माँस के दो पतले परदे के समान होते हैं जो श्वास-नलिका को घेरे रहते हैं। ये स्वर-तंत्रियाँ स्थिति स्थापक अर्थात् खिंचकर सिकुड़ जाने वाली होती हैं। जब प्राण वायु इनमें से होकर निकलती है, तो कभी तो ये एक दूसरे से इतनी समीप हो जाती हैं कि प्राण वायु को इनके बीच से रगड़ खाते हुए निकलना पड़ता है, जिससे वह इन्हें वीणा के तार की भाँति झनझना देती है और कभी एक दूसरे से इतनी दूर हो जाती हैं कि वायु बिना किसी प्रकार के अवरोध के निकल आती है। इन स्वरतंत्रियों के बीच का स्थान काकल कहलाता है। काकल के ऊपर की ओर गलबिल होता है, जो श्वास नलिका के साथ साथ अन्न-प्रणाली के साथ जुड़ा होता है। यहाँ पर एक पर्दा सा होता है जो खाते समय श्वास-नलिका के आवरण का काम देता है और अभिकाकल कहलाता है। इसके उपरान्त मुखविवर प्रारम्भ हो जाता है। मुख विवर की ऊपरी छत को तालु कहते हैं। इसका विस्तार

वर्त्स से लेकर कण्ठ तक है। इसके तीन भाग हैं—कठोर तालु या मूर्धा, तालु या मध्य तालु और कोमल तालु या कण्ठ। इस कण्ठ के भी पीछे की ओर कौआ होता है। यह एक लटकता हुआ मांसल-भाग है, जो अननुनासिक ध्वनियों के उच्चारण के समय नासिका विवर में वायु को जाने के लिए अवकाश दे देता है। तालु के आगे की ओर वर्त्स है। यह ऊपरी दाँतों के पीछे की ओर का उठा हुआ खुरदरा भाग है जिसे हम मसूड़ा कहते हैं। इसके आगे दाँत हैं। ये ऊपरी और नीचे के—दो हैं। मुख विवर के सबसे बाहरी अवयव हैं—ओष्ठ। ये भी दो हैं—ऊपरी और नीचे के। मुख विवर में जिह्वा नीचे की ओर का भाषण-करण है। इसका कार्य है उच्चारण काल में उठकर मुख विवर के अवकाश को कम या अधिक करना और यथावसर निर्गत-वायु को कुछ ऐसा रूप देना कि उससे विशिष्ट ध्वनि का उच्चारण हो जाय। इसके चार भाग किए जाते हैं—(१) जिह्वानीक—यह जिह्वा की नोक है और उच्चारण के समय दाँतों का स्पर्श करती है। (२) जिह्वाग्र—यह जिह्वा का वह अग्र भाग है जो जिह्वानीक के तुरन्त पीछे पड़ता है और वर्त्स तथा मूर्धा के साथ उच्चारण में सहायता करता है। (३) इसके बाद जिह्वोपाग्र या जिह्वा-मध्य है जो जिह्वा के बीच का भाग है और उठकर तालव्य वर्णों आदि के उच्चारण में सहायक होता है। (४) इसके बाद जिह्वापश्च है। जो कण्ठ तथा कौआ के साथ उच्चारण में सहायता करता है। इनके पीछे पुनः जिह्वामूल है। यह जिह्वा का अंतिम भीतरी भाग है। संक्षेप में यही सब भाषणावयव विभिन्न प्रयत्नों के फल स्वरूप ध्वनियों को उच्चरित करते हैं।

उच्चारण-प्रयत्न

उच्चारण-स्थानों के इस विवरण के उपरान्त अब हमारे सामने उच्चारण-प्रयत्नों के स्वरूप का विश्लेषण और वर्गीकरण करने का प्रश्न

आता है। हम पहले ही कह आये हैं कि स्वर-तंत्रियों से बाहर निकल कर जब प्राण-वायु मुखविवर में आती है तो उसे विभिन्न भाषणावयवों की सहायता से भाँति-भाँति के स्वरूप धारण करते हुए बाहर निकलना पड़ता है। प्राण-वायु के ये स्वरूप उच्चारण-प्रयत्नों के ही परिणाम होते हैं। निर्गत वायु मुख विवर से निम्न प्रकारों से निकलती है :—

(१) प्राण-वायु मुख विवर में किसी स्थान पर आकर उच्चारण स्थानों तथा उच्चारण-करणों के बीच से निकलने का स्थान न पाए और उसे रुकना पड़े, तब वह फिर फूटती हुई सी बाहर निकले। इनमें से प्रथम क्रिया उसका स्पर्श-प्रयत्न और द्वितीय स्फोट-प्रयत्न कहलाती है। इस प्रकार स्पर्श या स्फोट व्यंजनों का उच्चारण होता है।

(२) जब उच्चारण-स्थान तथा उच्चारण-करण-जिह्वा के किसी भाग के मध्य में इतना ही स्थान रहे कि वायु को रगड़ते हुए निकलना पड़े तो इसे घर्षण-प्रयत्न कहते हैं। इसमें वायु सीत्कार करती हुई, रगड़ खाती हुई निकलती है। इससे घर्ष व्यंजनों का उच्चारण होता है।

(३) जब जिह्वा की चौड़ाई के बीच वाले अंश के ऊपर उठ जाने से मुख विवर का मध्यम पथ तो अवरुद्ध हो जाता है, परन्तु वायु को पार्श्वों से निकलने की गुंजाइश रहती है और वह एक या दोनों पार्श्वों से बाहर निकलती है तो इसे पार्श्व-प्रयत्न कहते हैं। इससे पार्श्विक व्यंजनों का उच्चारण होता है।

(४) जब वायु इस प्रकार निकले कि जिह्वा के किसी भाग में तेजी के साथ किसी प्रकार का कंपन हो तो इसे जिह्वोत्कंपन-प्रयत्न कहते हैं। इससे लुण्ठित उत्क्षिप्त आदि व्यंजन उच्चरित होते हैं।

(५) जब प्राणवायु को मुखविवर में किसी प्रकार का अवरोध न मिले परन्तु जिह्वा तथा होंठों के स्वरूप-परिवर्तन मात्र से ही उच्चारणों में भेद हो, तो स्वरों का उच्चारण होता है। इसे अवरोधहीन-प्रयत्न

कह सकते हैं। प्रायः इन्हीं पाँच प्रकार के उच्चारण-प्रयत्नों से ही प्राण-वायु के स्वरूप में मुखविवर में आकर ऐसे परिवर्तन होते हैं कि वह किसी विशेष प्रकार से बाहर निकलती है और तदनुसार ध्वनि का उच्चारण होता है।

अघोष और घोष ध्वनियाँ

स्वरतंत्रियों का वर्णन करते समय हम बता आए हैं कि ये स्वर-तंत्रियाँ स्थिति स्थापक (elastic) अर्थात् खिंचकर सिकुड़ जाने वाली होती हैं। ये कभी कभी तो एक दूसरे के इतने समीप हो जाती हैं कि निर्गत वायु को धक्का देकर इनके बीच से निकलना पड़ता है। इस प्रकार जिन ध्वनियों का उच्चारण होता है वे घोष, सघोष या नाद ध्वनियाँ कहलाती हैं। जब ये स्वरतंत्रियाँ एक दूसरे से इतनी दूर होती हैं कि वायु बिना किसी प्रकार की बाधा के बाहर निकल आती है तो ये अघोष या श्वास ध्वनियाँ कहलाती हैं। काकल की इन दोनों से भिन्न एक और भी स्थिति होती है जिसमें 'जपित' या 'उपांशु' ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इस अवस्था में घोष ध्वनियाँ तो 'जपित' हो जाती हैं परन्तु अघोष ध्वनियों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इन अघोष और घोष ध्वनियों को मोटे तौर से पहिचानने की एक सरल विधि यह है कि आप उच्चारण करते समय दोनों कानों को हाथों की गदेलियों से कसकर बन्द कर लें और तब ध्वनियों के उच्चारण के समय यदि गूँजती हुई भनभनाहट की सी आवाज का आपको अपने कानों में आभास हो तो समझें कि उच्चरित ध्वनि घोष है और यदि ऐसा न हो तो समझें कि वह अघोष है।

ध्वनियों में सभी स्वर ध्वनियाँ नियमतः घोष होती हैं। व्यंजनों में अघोष और सघोष दोनों प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। हिन्दी में सभी स्वर तो घोष हैं ही, इसके अलावा ग़, घ़, ङ़, ज़, झ़, ञ, ड,

ढ़्, ण्, द्, ध्, न्, न्ह्, ब्, भ्, म्, म्ह्, र्, र्ह्, ल्, ल्ह्, ड़्, ढ़्, ह्, य्, व्,—व्यंजन भी सघोष हैं। शेष व्यंजन अघोष हैं।

अल्पप्राण और महाप्राण ध्वनियाँ

उपर्युक्त विभेद के अतिरिक्त ध्वनियों का वर्गीकरण—विशेषतः हिन्दी में—प्रयुक्त प्राण-ध्वनि के आधार पर भी किया जाता है। जब किसी ध्वनि का उच्चारण प्राण-ध्वनि-युक्त होता है, तो वह ध्वनि महाप्राण कहलाती है। काकल में कभी कभी उच्चारण करते समय एक पूर्व श्रुति उत्पन्न होती है। यह पूर्व श्रुति ही जब एक झटके के साथ उच्चरित होती है, तो प्राण-ध्वनि का रूप धारण करती है और जिस ध्वनि के साथ यह संयुक्त हो जाती है वह महाप्राण कहलाती है। जिन ध्वनियों के उच्चारण में यह झटके से उच्चरित पूर्वश्रुति नहीं वर्तमान रहती, वे अल्पप्राण कहलाती हैं। हिन्दी में ख्, घ्, छ्, झ्, ठ्, ढ्, थ्, ध्, फ्, भ्, न्ह्, म्ह्, ल्ह्, र्ह्, ढ़्—महाप्राण ध्वनियाँ हैं। शेष व्यंजन तथा सभी स्वर अल्पप्राण होते हैं।

स्वर और व्यंजन

अब हम ध्वनियों का वर्गीकरण-स्वर और व्यंजन—इन दो वर्गों में करेंगे। स्वरों के उच्चारण में निर्गत वायु मुखविवर से बिना किसी प्रकार के अवरोध के ही बाहर निकल जाती है। इसके उच्चारण में मुख-द्वार हमेशा इतना खुला रहता है कि स्पर्श, घर्षण आदि किसी प्रकार का कोई निरोध नहीं उत्पन्न होता। ये स्वर ध्वनियाँ घोष तथा अल्प प्राण ही होती हैं।[1] व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण में मुखविवर

---

1 "A vowel is a sound for whose production, the oral passage is unobstructed, so that the air current can flow from the lungs to the lips and beyond without being stopped, without having to squeeze through a narrow constriction, without being deflected from the

में जिह्वा, तालु आदि भाषणावयवों के स्पर्श के द्वारा वायु के निर्गमन में अवरोध होता है और फिर वायु स्फोट करती हुई बाहर निकलती है, अथवा वायु का निर्गमन घर्षण से, पार्श्व-प्रयत्न से या जिह्वोत्कंपन के साथ होता है।[1] स्वर और व्यंजन ध्वनियों का यह भेद वस्तुतः, प्राण-वायु मुखविवर से किस प्रकार निकलती है, इस आधार पर किया जाता है। स्वर तो सभी घोष और महाप्राण ही होते हैं, परन्तु व्यंजनों में—महाप्राण एवं अल्पप्राण तथा अघोष और घोष—सभी भेद होते हैं।

व्यंजनों के सामान्य वर्गीकरण के आधार

व्यंजनों का वर्गीकरण प्रायः दो प्रकार से किया जाता है—(१) स्थान के अनुसार, और (२) प्रयत्न के अनुसार। प्रथम प्रकार के वर्गीकरण में उच्चारणोपयोगी अपयवों का आधार ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार के वर्गीकरण में व्यंजनों की आठ श्रेणियाँ बनती हैं—ओष्ठ्य, दन्त्य, वर्त्स्य, मूर्धन्य, तालव्य, कण्ठ्य, काकल्य और जिह्वामूलीय। प्रयत्नानुसार वर्गीकरण में भी प्रायः आठ ही वर्ग बन जाते हैं—स्पर्श, स्पर्श-घर्ष, घर्ष, अनुनासिक, पार्श्विक, लुण्ठित,

---

median line of its channel and without causing any of the Supraglottal organ to vibrate". B. Bloch and G. L. Trager—Outlines of Linguistic Analysis—Chap II

1. "A Consonant, conversely, is a sound for whose production the air-current is completely stopped by an occlusion of the larynx or the oral passage, or is forced by squeeze through a narrow constriction, or is deflected from the median line of its channel through a lateral opening or causes one of the supraglottal organs to vibrate." B Bloch and G. L. Trager—Outlines of Linguistic Analysis—Chap. II.

उत्क्षिप्त और अर्धस्वर। अब हम इन दोनों प्रकार के वर्गीकरणों का परिचय, हिन्दी व्यंजनों का उदाहरण देते हुए, देंगे।

स्थान के अनुसार वर्गीकरण

स्थान के अनुसार व्यंजनों का वर्गीकरण करने में आठ मुख्य भेद बनाए जाते हैं। ये भेद निम्न हैं—

(१) **ओष्ठ्य**—ओष्ठ्य व्यंजनों का उच्चारण ओठों की सहायता से होता है। इनके उच्चारण में जिह्वा की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये व्यंजन दो प्रकार के होते हैं—

(क) **द्व्योष्ठ्य**—इनका उच्चारण ऊपर और नीचे के ओठों से किया जाता है, जैसे—प्, फ्, ब्, भ्, म् और म्ह्।

(ख) **दन्त्योष्ठ्य**—इनका उच्चारण ऊपर की दन्त-पंक्ति और नीचे के ओठ से होता है, जैसे—फ़्, व्, और व्।

(२) **दन्त्य**—ये व्यंजन ऊपर की दन्तपंक्ति और जिह्वानीक के सहारे उच्चरित होते हैं, जैसे—हिन्दी के त्, थ्, द् और ध्।

(३) **वर्त्स्य**—ये व्यंजन वर्त्स (दाँतों के पीछे का उठा हुआ मांसल भाग)[1] और जिह्वानीक से उच्चरित होते हैं, जैसे—न्, न्ह्, र्, र्ह्, ल्, ल्ह्, स् और ज़्।

(४) **मूर्धन्य**—ये व्यंजन कठोर तालु अथवा मूर्धा और जिह्वाग्र से उच्चरित होते हैं, जैसे—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ड़् और ढ़्।

(५) **तालव्य**—ये व्यंजन तालु अर्थात् तालुमध्य और जिह्वोपाग्र से उच्चरित होते हैं, जैसे—च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, श् और य्।

(६) **कण्ठ्य**—ये व्यंजन कण्ठ और जिह्वापश्च से उच्चरित होते है। यहाँ कण्ठ से तात्पर्य है तालु का अन्तिम पीछे की ओर का भाग। ये व्यंजन हैं—क्, ख्, ग्, घ् और ङ्।

---

१. "दन्तमूलादुपरिष्टादुच्छ्रूनः प्रदेशः।"

(७) काकल्य—ये वे व्यंजन हैं, जो काकल में उत्पन्न होते हैं। इनके उच्चारण में भी जिह्वा की आवश्यकता नहीं पड़ती हिन्दी में 'ह्' इसी प्रकार का व्यंजन है। विसर्ग का स्थानापन्न 'ः' भी इसी वर्ग में आता है। इन्हें स्वरयंत्रमुखी भी कहते हैं।

(८) जिह्वामूलीय—हिन्दी में विदेशी भाषाओं से कुछ ऐसी ध्वनियाँ आ गई हैं जिनका उच्चारण जिह्वामूल से होता है, जैसे—क़्, ख़् और ग़्।

प्रयत्न के अनुसार वर्गीकरण

उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त व्यंजनों का वर्गीकरण प्रयत्न के अनुसार भी किया जाता है। इस दृष्टि से भी आठ प्रभेद होते हैं। ये निम्न हैं—

(१) स्पर्श अथवा स्फोट—इनके उच्चारण में भाषणावयवों का पूर्णतया स्पर्श होता है और इसलिए वायु जब मुख-विवर में आती है, तो उसे कहीं न कहीं अवरुद्ध होना पड़ता है। इस प्रकार रुक जाने पर वायु फिर धक्का देकर निकलती है। अवयवों के स्पर्श के कारण इन्हें स्पर्श व्यंजन कहते हैं और वायु के अवरुद्ध होने के उपरान्त स्फोट करके निकलने के कारण ये स्फोट कहलाते हैं। हिन्दी में ऐसे व्यंजनों की संख्या ही अधिक है। हिन्दी के स्पर्श व्यंजन ये हैं—प्, फ, ब्, भ्, त्, थ्, द्, ध्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, क्, ख्, ग्, घ् और क़्।

(२) घर्ष या संघर्षी—इनके उच्चारण में मुख विवर कहीं भी ऐसा बन्द नहीं होता कि वायु का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाय परन्तु वह इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा रगड़ खाती हुई निकलती है। इस प्रकार वायु के निकलने में सीत्कार की सी ध्वनि होती है। ये व्यंजन घर्ष, संघर्षी या ऊष्म कहलाते हैं। हिन्दी के घर्ष व्यंजन ये हैं—फ़्, व्, स्, ज़्, श्, ख़्, ग़्, ह् और ह्।

(३) स्पर्श-घर्ष—ये व्यंजन उपर्युक्त दोनों विधियों के मिश्रित रूप होते हैं। इनके उच्चारण में पहले तो स्पर्श की अवस्था होती है, अर्थात् मुखद्वार बन्द हो जाता है और वायु अवरुद्ध हो जाती है, फिर इसके बाद वह अवरोध जरा सा खुल जाता है और एक अत्यन्त संकीर्ण मार्ग बन जाता है जिससे वायु घर्षण करती हुई निकल जाती है। इस प्रकार इन व्यंजनों के उच्चारण में वायु का अवरोध स्पर्श व्यंजनों के समान होता है और उसका निर्गमन घर्ष व्यंजनों के समान। हिन्दी के घर्ष-स्पर्श ये हैं—च्, छ्, ज् और झ्।

(४) अनुनासिक—अनुनासिक व्यंजनों के उच्चारण की क्रिया तनिक घुमावदार है। इनके उच्चारण में मुख-विवर किसी स्थान पर बन्द हो जाता है और वायु जब मुख-विवर को बन्द पाकर नहीं निकल पाती तो वापस जाती है, उसी समय कौआ, जो अन्य

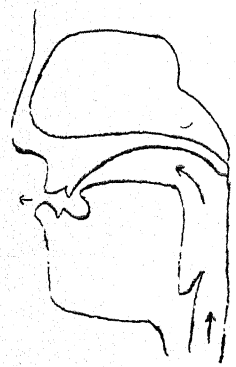

दन्त्य स्पर्श—त्

चित्र सं० २

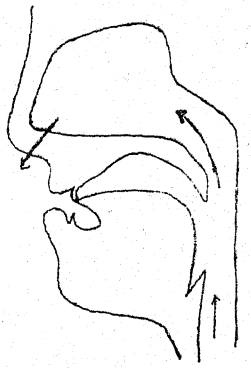

दन्त्य अनुनासिक—न्

चित्र सं० ३

सभी प्रकार के व्यंजनों के उच्चारण के समय नासिका विवर के द्वार को बन्द किए रहता है, नीचे की ओर आ जाता है और वह लौटी हुई वायु नासिका में से होकर निकल जाती है। इस प्रकार की

प्रक्रिया से अनुनासिक व्यंजनों का उच्चारण होता है। स्पष्टतया समझने के लिए यहाँ दो चित्र दिए जा रहे हैं। चित्र सं० २ दन्त्य स्पर्श 'त्' के उच्चारण की स्थिति को स्पष्ट करता है और चित्र सं० ३ में अनुनासिक 'न्' के उच्चारण की स्थिति उपस्थित की गई है। इन दोनों चित्रों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने से यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा और अनुनासिक व्यंजनों के उच्चारण की विधि समझने में कठिनाई न होगी। हिन्दी के अनुनासिक व्यंजन इस प्रकार हैं—ङ्, ञ्, ण्, न्, न्ह्, म्, और म्ह्।

(५) पार्श्विक—इन व्यंजनों के उच्चारण में जब वायु मुख-विवर में आती है तो जिह्वा की चौड़ाई का मध्यम भाग ऊपर उठकर बीच का मार्ग अवरुद्ध कर देता है और वायु उसके दोनों पार्श्वों से होकर बाहर निकल जाती है। इस प्रकार के व्यंजन 'ल' और 'ल्ह्' हैं।

(६) लुण्ठित—इन व्यंजनों के उच्चारण में जिह्वा बेलन की तरह लपेट खाकर तालु का स्पर्श करती है। ऐसे व्यंजन हिन्दी में र् और र्ह् हैं।

(७) उत्क्षिप्त—इन व्यंजनों के उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग बड़े वेग के साथ ऊपर उठकर तालु को ठोकर देते हुए तत्काल ही उसी वेग से नीचे आ जाता है। हिन्दी के 'ड़्' और 'ढ़्' इसी कोटि के व्यंजन हैं।

(८) अर्धस्वर—इस कोटि में वे व्यञ्जन आते हैं जिनका व्यवहार तो सामान्यतः व्यंजन के ही समान होता है, परन्तु जो कभी-कभी स्वर भी हो जाते हैं। हिन्दी के 'य्' और 'व्' इसी प्रकार के व्यंजन हैं।

हिन्दी के व्यंजनों का यह स्थान और प्रयत्न के अनुसार किया हुआ वर्गीकरण निम्न कोष्ठक (table) से भली भाँति समझा जा सकता है :—

हिन्दी की व्यंजन-ध्वनियाँ

स्थान के अनुसार / प्रयत्न के अनुसार	ओष्ठ्य: द्वयोष्ठ्य	ओष्ठ्य: दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	मूधन्य	तालव्य	कण्ठ्य	जिह्वा-मूलीय	काकल्य
स्पर्श									
अघोष अल्पप्राण	प्		त्		ट्		क्	क़्	
,, महाप्राण	फ्		थ्		ठ्		ख्		
सघोष अल्पप्राण	ब्		द्		ड्		ग्		
,, महाप्राण	भ्		ध्		ढ्		घ्		
स्पर्श-घर्ष—									
अघोष अल्पप्राण						च्			
,, महाप्राण						छ्			
सघोष अल्पप्राण						ज्			
,, महाप्राण						झ्			

(शेष पृष्ठ २०२ पर)

घर्ष									
अघोष अल्पप्राण				स्		श्			ह्
,, महाप्राण		फ़्						ख़्	
सघोष अल्पप्राण		व्		ज़्				ग़्	
,, महाप्राण									ह्
पार्श्विक									
सघोष अल्पप्राण				ल्					
,, महाप्राण				ल्ह्					
अनुनासिक									
सघोष अल्पप्राण	म्			न्	ण्	ञ्	ङ्		
,, महाप्राण	म्ह्			न्ह्					
लुण्ठित									
सघोष अल्पप्राण				र्					
,, महाप्राण				र्ह्					
उत्क्षिप्त									
सघोष अल्पप्राण					ड़्				
,, महाप्राण					ढ़्				
अर्ध-स्वर									
सघोष अल्पप्राण		व्				य्			

स्वरों का वर्गीकरण

जब स्वरतंत्रियों से बाहर निकलने के उपरान्त प्राण-वायु को मुख-विवर में किसी प्रकार के निरोध का सामना नहीं करना पड़ता, तो स्वरों का उच्चारण होता है। स्वरों के उच्चारण में मुख्यतः जिह्वा ही सहायक होती है। उसी के अग्र या पश्च भाग के कम या अधिक उठने और खुलने से ही विभिन्न स्वर-ध्वनियों का स्वरूप निर्मित होता है। इन स्वरों का वर्गीकरण भी स्थान और प्रयत्न के ही अनुसार किया जाता है। अब हम स्वरों के वर्गीकरण का विवरण देंगे।

स्वरों के स्थान-गत विभेद

स्वरों के वर्गीकरण में जिह्वा के अंगों की विभिन्न स्थितियों को आधार बनाया जाता है। जिह्वा की तीन प्रधान स्थितियाँ हो सकती

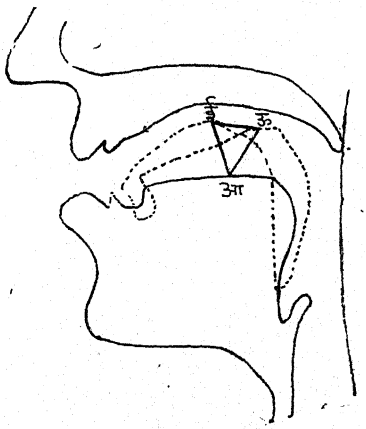

स्वर-त्रिकोण
(उच्चारण में जिह्वा की स्थितियाँ)
चित्र सं० ४

हैं—(१) जब जिह्वाग्र इतना ऊपर उठ जाय जितने से अधिक ऊपर उसे स्वरों के उच्चारण में नहीं उठाया जा सकता। यह 'ई' के उच्चारण की स्थिति होती है। (२) जब जिह्वा-पश्च इतना ऊपर उठ जाय जितने से अधिक ऊपर उसे स्वरों के उच्चारण में नहीं उठाया जा सकता। यह स्थिति 'ऊ' के उच्चारण की है। (३) जब जिह्वोपाग्र इतने नीचे बना रहे, जितने से अधिक नीचे उसे स्वरों के उच्चारण में नही किया जा सकता। यह 'आ' के उच्चारण की स्थिति है। संलग्न चित्र सं० ४ में जिह्वा की इन तीनों स्थितियों को दिखलाया गया है। अब यदि इन्हें, अर्थात् आ, ऊ, ई को, तीन बिन्दु मानकर मिला दिया जाय तो जिस स्वर के उच्चारण में जिह्वा इस स्वर-त्रिकोण के बाहर बाईं ओर पड़े वह अग्र, जिसके उच्चारण में बाहर दाहिनी ओर पड़े वह पश्च और जिस स्वर के उच्चारण में इस त्रिभुज के मध्य में पड़े वह मध्य स्वर कहलाएगा। संक्षेप में हम यह कह सकेते हैं कि जिह्वाग्र की विभिन्न स्थितियों से उच्चरित स्वर अग्र, जिह्वोपाग्र की विभिन्न स्थितियों से उच्चरित स्वर मध्य और जिह्वा-पश्च की विभिन्न स्थितियों से उच्चरित स्वर पश्च कहलाते हैं। स्थान के अनुसार स्वरों के ये ही तीन भेद होते हैं।

स्वरों के प्रयत्नगत विभेद

प्रयत्न के अनुसार स्वरों के चार भेद किए गए हैं—संवृत, अर्ध-संवृत, अर्ध-विवृत और विवृत। स्वरों के उच्चारण में प्राण-वायु बिना किसी प्रकार के अवरोध के इसलिए निकल जाती है कि मुख-द्वार सदैव खुला रहता है। उसका यह खुलाव या अवकाश कम और ज्यादा होता रहता है। जब 'ई' आदि स्वरों के उच्चारण के लिए जिह्वा बिना किसी प्रकार के घर्षण का अवसर दिए हुए यथा संभव उपर उठ जाती है तो यह अवकाश अपेक्षाकृत कम हो जाता है और जब 'आ' आदि के उच्चारण के लिए यथा संभव नीचे होती है तो

यह अवकाश अधिकतम हो जाता है। इनमें से प्रथम स्थिति संवृत स्वरों की और दूसरी विवृत स्वरों की होती है। जब जिह्वा संवृत और विवृत स्थितियों के मध्य में भिन्न भिन्न ऊँचाइयों तक उठती है तो ईषत्-संवृत और ईषत्-विवृत स्वरों की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। इन चारों में जिह्वा के ऊपर उठने तथा अवकाश के कम-अधिक होने का क्रम इस प्रकार है—

(१) संवृत—जब जिह्वा बिना किसी प्रकार के घर्षण आदि का अवसर दिए हुए उतनी ऊपर उठ जाती है जितनी अधिकतम ऊँचाई तक उसका स्वरों के उच्चारण में उठना सम्भव होता है, तो संवृत स्वरों का उच्चारण होता है।

(२) अर्ध-संवृत या ईषत्-संवृत—जब जिह्वा उच्च-मध्य अवस्था में रहती है और इस प्रकार मुख द्वारा का अवकाश संवृत की स्थिति से कुछ अधिक हो जाता है, तो अर्ध-संवृत या ईषत्-संवृत स्वरों का उच्चारण होता है। इस प्रकार इन स्वरों के उच्चारण में जिह्वा उस ऊँचाई तक उठती है जो उसकी संवृत और विवृत स्थितियों के बीच की दूरी की दो-तिहाई होती है।

(३) अर्ध—विवृत या ईषत्-विवृत—जब जिह्वा निम्न-मध्य अवस्था में रहती है और इस प्रकार मुखद्वार का अवकाश अर्ध-संवृत से अधिक और विवृत से कम—प्रायः दोनों के बीच का हो जाता है, तो अर्ध-विवृत या ईषत्-विवृत स्वरों का उच्चारण होता है। इन स्वरों के उच्चारण में जिह्वा केवल उस ऊँचाई तक उठती है जो उसकी संवृत तथा विवृत स्थितियों के बीच की दूरी का एक-तिहाई ही होती है।

(४) विवृत—जब जिह्वा यथासंभव निम्नतम अवस्था में रहे और मुखद्वार का अवकाश यथासंभव अधिक हो, तो विवृत स्वरों का उच्चारण होता है।

मान-स्वर

इस प्रकार स्थान के अनुसार स्वरों के तीन प्रकार—अग्र, मध्य और पश्च—तथा प्रयत्न के अनुसार चार प्रकार—संवृत, अर्ध-संवृत, अर्ध-विवृत और विवृत—होते हैं। संसार की विभिन्न भाषाओं में स्वरों के उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रकार से किए जाते हैं और कभी-कभी ये उच्चारण ठीक-ठीक उपर्युक्त स्थितियों के अनुसार नहीं होते वरन् कुछ आगे-पीछे या ऊपर-नीचे हटकर होते हैं, जैसे हिन्दी के स्वर 'ए' के उच्चारण में जिह्वा उतना ऊपर नहीं उठती, जितना उसे अर्ध-संवृत स्वर के उच्चारण में उठना चाहिए, वरन् कुछ कम ऊपर उठती है अर्थात् हिन्दी 'ए' का उच्चारण अर्ध-संवृत से कुछ नीचे हटकर होता है। अतएव सभी भाषाओं के स्वरों की परीक्षा करके भाषाशास्त्रियों ने आठ मान स्वरों का निर्धारण किया है, जो किसी

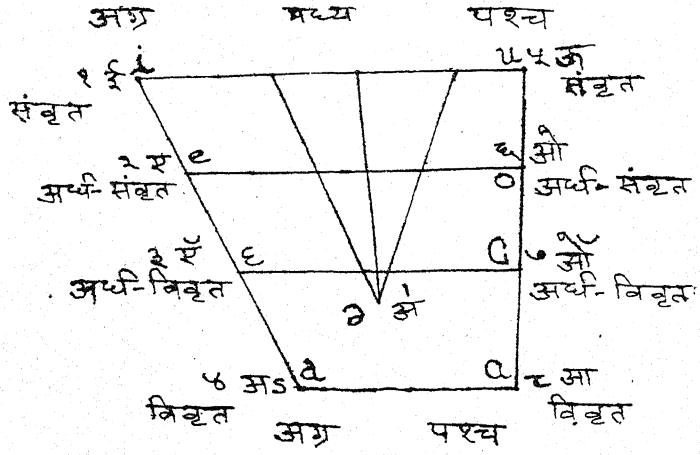

मान स्वर

चित्र सं० ५

भाषा-विशेष के स्वर नहीं हैं, वरन् एक प्रकार के स्टैन्डर्ड स्वर हैं जिनके अनुसार किसी भाषा के स्वरों के स्थान आदि का ध्वन्यात्मक विवरण बनाया जा सकता है। ये मान-स्वर (Cardinal vowels) निम्न हैं—i, e, Σ, ɑ, a, c, o, u अथवा इ, ए, ऐ, अऽ, आ, ओ, ओ, ऊ। इन मान-स्वरों के उच्चारण-स्थान आदि की सही-सही जानकारी चित्र सं० ५ से हो जाएगी।

हिन्दी के मूल-स्वर

हिन्दी के मूल-स्वरों की संख्या कुल मिलाकर उन्नीस है। ये मूलस्वर निम्न हैं—

अ, आ, ऑ, ऑं, ऑँ, ओ, ओ, उ̥, उ, ऊ, ई, इ̥, इ, ए, ए̥, ए̥, ऍ, ऍं, अं।

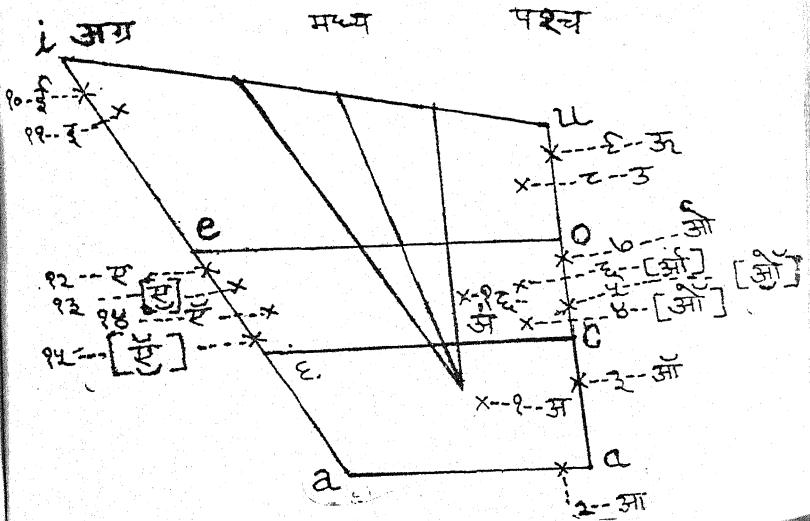

मानस्वर और हिन्दी के स्वर—चित्र सं० ६

इन सभी स्वरों के उच्चारण-स्थानों की ठीक-ठीक जानकारी और मान-स्वरों से उनकी उच्चारण-स्थान गत तुलना का विवरण चित्र सं० ६ से ज्ञात हो जायगा। चित्र सं० ६ में देवनागरी अक्षरों में लिखे गए स्वर हिन्दी के मूल स्वर हैं और रोमन अक्षरों में मान-स्वरों को दिया गया है, जिससे समझने में स्पष्टता और सुविधा हो। अब हम हिन्दी के इन स्वरों तथा पूर्व-वर्गीकृत व्यंजनों का ध्वन्यात्मक विवरण उपस्थित करेंगे।

हिन्दी ध्वनियों का ध्वन्यात्मक वर्णन

स्वर-ध्वनियाँ

हिन्दी में १६ स्वर-ध्वनियाँ हैं। ये ध्वनियाँ हिन्दी तथा उसकी बोलियों में प्राप्त होती हैं। ये इस प्रकार हैं—अ, आ, ऑ, ऑ, ओ, ओ, ओ, उ, ु, ऊ, ई, इ, ि, ए, े, ए, ॅ, ऍ, अं। इनके उच्चारण का स्थान और प्रयत्नगत परिचय निम्न है।

(१) अ—यह अर्ध-विवृत, ह्रस्व, मध्य-स्वर है। इसका उच्चारण-काल एक मात्रा है। यह ध्वनि 'अब', 'कमल', 'घर' के अ, क, म, घ में वर्तमान है। शब्दान्त तथा अक्षरान्त में हिन्दी में 'अ' का उच्चारण नहीं होता, और उपर्युक्त उदाहरणों में ब, ल, र का हलन्त उच्चारण होता है। इस नियम के अपवाद भी हैं। संयुक्त व्यंजन और दीर्घ स्वर के पश्चात् आने वाले 'अ' का शब्दान्त में भी उच्चारण होता है। एकाक्षर शब्दों, जैसे—'न' आदि, में भी यह उच्चरित होता है।

(२) आ—यह विवृत, दीर्घ, पश्च स्वर है। यह उपर्युक्त 'अ' का दीर्घ रूप नहीं है, क्योंकि दोनों में स्थान-भेद और प्रयत्न-भेद है। हिन्दी में इसका ह्रस्व रूप नहीं मिलता। उदाहरण—आदमी, काम, काला आदि।

(३) ऑ—यह अर्ध-विवृत पश्च स्वर है। इसका उपयोग अंग्रेजी से आए हुए शब्दों के तत्सम उच्चारण में किया जाता है, जैसे—कॉङ्गरेस, लॉर्ड, कॉन्फ्रेन्स आदि।

(४) ऑ यह अर्ध-विवृत ह्रस्व पश्च स्वर है। इसका व्यवहार ब्रज भाषा में होता है, जैसे अवलोकि हौं सोच-विमोचन कौं।

(५) ओ॑ यह अर्ध-विवृत दीर्घ पश्च स्वर है। प्रधान स्वर ओ से इसका स्थान कुछ ऊँचा है। ब्रजभाषा में इसका उपयोग मिलता है, जैसे ऐसो॑, गयो॑ आदि।

(६) ओ—यह अर्ध-संवृत ह्रस्व पश्च स्वर है। प्रधान स्वर की अपेक्षा यह नीचे को और मध्य की ओर झुका हुआ है। ब्रज और अवधी में प्रयुक्त होता है, जैसे—ओहि केर बिटिया; पुनि लेत सोहि जेहि लागि अरैं।

(७) ओ—यह अर्ध-संवृत दीर्घ पश्च स्वर है। यह प्रधान-स्वर ओ से मिलता-जुलता है। उदाहरण—घोड़ा, हटो आदि।

(८) उ—यह संवृत ह्रस्व पश्च स्वर है। यह प्रधान स्वर 'उ' की अपेक्षा नीचे की ओर और मध्य की ओर झुका है। जैसे—उस, मधुर, ऋतु।

(९) उ॒—यह जपित संवृत ह्रस्व पश्च स्वर है। शब्दान्त में ब्रज तथा अवधी में यह स्वर भी पाया जाता है; जैसे—(ब्रज०) जग्तु॒, (अव०) भोरउ॒।

(१०) ऊ—यह संवृत दीर्घ पश्च स्वर है। इसका स्थान प्रधान स्वर 'उ' से जरा ही नीचे है। उदाहरण—मसूर, बालू, ऊमर आदि।

(११) ई—यह संवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका स्थान प्रधान स्वर से जरा सा ही नीचे है। उदाहरण—ईख, अमीर, थाती आदि।

(१२) इ—यह संवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। यह कुछ नीचे की

ओर और मध्य की ओर हटकर उच्चरित होता है। उदाहरण—इस मिलाप, जाति आदि।

(१३) इ—यह जपित संवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। केवल ब्रज और अवधी में ही यह ध्वनि मिलती है। उदाहरण—(ब्रज) आवति, (अवधी) गोलि आदि।

(१४) ए—यह अर्ध-संवृत दीर्घ अग्र स्वर है। प्रधान-स्वर 'ए' से जरा नीचे हटकर उच्चरित होता है। उदाहरण—एक, चले, महेश आदि।

(१५) ए—यह अर्ध-संवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसका उच्चारण स्थान उपर्युक्त 'ए' से कुछ नीचे और मध्य की ओर हटकर है। साहित्यिक हिन्दी में नहीं, हिन्दी की बोलियों में यह प्रयुक्त होता है। उदाहरण—अवधेस के द्वारे सकारे गई, आदि।

(१६) ए—यह जपित अर्ध-संवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। अवधी में इसका प्रयोग होता है; जैसे कहेसु ए आदि।

(१७) ऍ—यह अर्ध-विवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका स्थान प्रधान-स्वर ऐ से कुछ ऊपर और मध्य की ओर हटकर है। यह ब्रजभाषा में प्रयुक्त होता है। उदाहरण—ऍसो आदि।

(१८) ऍ—यह अर्ध-विवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। उदाहरण—सुत गोद के भूपति लै निकसे।

(१९) अं—यह अर्ध-विवृत मध्य उदासीन स्वर है। इसे neutral या central vowel कहते हैं। इसका उच्चारण काल अर्ध मात्रा का है। यह हिन्दी की अवधी बोली में मिलता है—

सोरही, रामकं आदि। पंजाबी में इसका प्रयोग अधिक है; जैसे—बंचारा, रईस, नौकंर आदि।

अनुनासिक स्वर

उपर्युक्त सभी ध्वनियों के अनुनासिक रूप हो सकते हैं, परन्तु सभी का प्रयोग हिन्दी में मिलता हो, ऐसी बात नहीं है। हिन्दी की बोलियों में बुन्देली में अनुनासिक-स्वर अधिक मिलते हैं। इनके उच्चारण में कुछ वायु तो मुख विवर में आती है और कुछ कौआ के नीचे आ जाने से नासिका-विवर में चली जाती है। नासिका-विवर में गई यह वायु गूँजकर निकलती है और उस स्वर-ध्वनि को सानुनासिक या अनुनासिक बना देती है।

संध्यक्षर

संध्यक्षर असवर्ण स्वरों का एक ऐसा समूह है जिसका उच्चारण एक अक्षर के ही समान होता है। इसमें प्राण-वायु के एक ही निर्गमन में दो स्वरों का उच्चारण हो जाता है, क्योंकि एक स्वर के उच्चारण-स्थान से जिह्वा दूसरे के उच्चारण स्थान तक बड़ी शीघ्रता से चली जाती है। हिन्दी में ऐसे सन्ध्यक्षर दो हैं—ऐ और औ। (१) ऐ—यह ह्रस्व अ और ह्रस्व ए की संधि से बना है, जैसे—ऐसा, बैर, कैसा आदि। (२) औ—यह ह्रस्व अ और ह्रस्व ओ के संयोग से बना है, जैसे—और, कौड़ी, औरत आदि। कुछ विद्वान् एक साथ क्रमिक रूप से प्रयुक्त दो या द्वयाधिक स्वरों के समूह को भी संध्यक्षर मानते हैं, जैसे—कौआ, भैया आदि में प्रयुक्त स्वर-समूह।

व्यंजन ध्वनियाँ

हिन्दी में तथा हिन्दी की बोलियों में प्रयुक्त कुल ध्वनियाँ ४५ हैं। ये स्पर्श, स्पर्श-घर्ष, घर्ष, अनुनासिक, पार्श्विक, उत्क्षिप्त, लुण्ठित

और अर्ध-स्वर—इन आठ वर्गों में रखी जाती हैं। अब हम क्रमशः इनका वर्णन करेंगे।

स्पर्श

(१) क़्—यह अरबी, फारसी से आए हुए शब्दों के उच्चारण में प्रयुक्त ध्वनि है। यह अल्पप्राण, अघोष, जिह्वामूलीय, स्पर्श व्यंजन है। लोग बोलचाल की हिन्दी में इसके स्थान पर कण्ठ्य 'क' का प्रयोग करते हैं। उदाहरण—क़ाबिल, मुक़ाम, तक़दीर आदि

(२) क—यह अल्पप्राण, अघोष, कण्ठ्य, स्पर्श व्यंजन है। प्राचीन काल में इन कण्ठ्य ध्वनियों का उच्चारण 'कण्ठ'-स्थान के पीछे वाले किनारे के पास से होता था परन्तु आजकल खिसक कर आगे वाले किनारे से होने लगा है। उदाहरण—कम, एक, चकिया आदि

(३) ख़्—यह महाप्राण, अघोष, कण्ठ्य, स्पर्श व्यंजन है। यथा-खेत, सुख, भिखारी

(४) ग़्—यह अल्पप्राण, सघोष कण्ठ्य, स्पर्श ध्वनि है। यथा-नाग, गागर, गेंद आदि

(५) घ्—यह महाप्राण, सघोष, कण्ठ्य, स्पर्श है। यथा-घर, घोष, करघा आदि।

(६) ट्—यह अल्पप्राण, अघोष, मूर्धन्य स्पर्श है। मूर्धन्य व्यंजन ध्वनियाँ भारोपीय ध्वनि समूह में नहीं मिलतीं। विद्वानों का विचार है कि प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा में ये ध्वनियाँ द्राविड सम्पर्क से आईं। ऋग्वेद के प्रारम्भिक अंशों में इनका कम उपयोग भी यही सिद्ध करता है। इनका उच्चारण कठोर तालु के मध्य भाग से होता है। उदाहरण—टीला, सरपट, रटना आदि।

(७) ठ्—यह महाप्राण, अघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है। यथा-ठाठ साठ, कठोर आदि।

(८) ड्— यह अल्पप्राण, सघोष, मूर्धन्य स्पर्श है। यथा-डमरू, गँडेरी, खण्ड आदि।

(९) ढ्—यह महाप्राण, सघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है। यथा-ढीला, मेंढक, षंढ आदि।

(१०) त्—यह अल्पप्राण, अघोष, दन्त्य, स्पर्श है। इसका और अन्य स्पर्शों का उच्चारण ऊपर वाली दन्त-पंक्ति के पीछे जिह्वा-नीक का स्पर्श होने से होता है। उदाहरण—तब, पतन, बात आदि।

(११) थ्—यह महाप्राण, अघोष, दन्त्य, स्पर्श है। यथा—थन, पत्थर, साथ आदि।

(१२) द्—यह अल्पप्राण, सघोष, दन्त्य, स्पर्श है। दादा, मदारी, चाँद आदि।

(१३) ध्— यह महाप्राण, सघोष, दन्त्य, स्पर्श है। यथा-धन, विधवा, साध आदि।

(१४) प्—यह अल्पप्राण, अघोष, द्वयोष्ठ्य स्पर्श है। इसके उच्चारण में वायु-निरोध का कार्य दोनों ओंठ मिलकर करते हैं और जीभ से सहायता नहीं ली जाती। उदाहरण—पतन, अपना, बाप आदि।

(१५) फ्—यह महाप्राण, अघोष, द्वयोष्ठ्य स्पर्श है। यथा, फूल, बफारा, फूफा आदि।

(१६) ब्—यह अल्पप्राण, सघोष, द्वयोष्ठ्य, स्पर्श है। यथा—बात, धोबिन, अब आदि।

(१७) भ्—यह महाप्राण, सघोष, द्वयोष्ठ्य, स्पर्श है। यथा, भोर, साँभर, कभी आदि।

स्पर्श-घर्ष

हिन्दी में स्पर्श-घर्ष ध्वनियाँ केवल चार हैं। इनका ध्वन्यात्मक विवरण इस प्रकार है—

(१८) च्—यह अल्पप्राण, अघोष, तालव्य, स्पर्श-घर्ष व्यंजन है। आजकल च वर्ग की ध्वनियों का उच्चारण ट वर्ग के उच्चारण-स्थान के आगे से होने लगा है। इनके उच्चारण में जिह्वाग्र वर्त्स के ऊपर और तालु के अग्रभाग में स्पर्श करता है और फिर वायु घर्षण करती हुई निकलती है। उदाहरण—चना, कचनार, नाच आदि।

(१९) छ्—यह महाप्राण, अघोष, तालव्य, स्पर्श-घर्ष है। यथा—छाता, कछार, कुछ आदि।

(२०) ज्—यह अल्पप्राण, सघोष, तालव्य, स्पर्श-घर्ष है। यथा—जाना, काजल, आज आदि।

(२१) झ्—यह महाप्राण, सघोष, तालव्य, स्पर्श-घर्ष है। यथा—झाड़ू, सुलझाना, बाँझ आदि।

घर्ष

आजकल हिन्दी में सब मिलाकर ९ संघर्षी ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। ये ध्वनियाँ—ह्, ह्, ख्, ग़्, श्, स्, ज़्, फ़्, व् हैं। इनका विवरण निम्न है—

(२२) ह्—यह अघोष, स्वरयंत्रमुखी, संघर्षी ध्वनि है। यह 'ह' लिपि में विसर्ग—':'—के रूप में लिखा जाता है। हिन्दी में इसका प्रयोग बहुत कम होता है। केवल 'छः' तथा कुछ विस्मयादि बोधक शब्द 'छिः' आदि में इसका प्रयोग देखा जाता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों में इसका प्रयोग होता है, जैसे पुनः, प्रायः आदि। हिन्दी में 'दुःख' शब्द में विसर्ग लिखते तो हैं परन्तु बोलते हैं दुक्ख् [dukkha]। इस विसर्ग ध्वनि का उच्चारण वायु को अन्दर से जोर से फेंककर मुखद्वार के खुले रहते हुए स्वरयंत्र के मुख पर रगड़ उत्पन्न करके किया जाता है। यह विसर्ग एक अघोष ध्वनि है और सघोष

ह से भिन्न है। अघोष महाप्राण व्यंजन में वास्तव में यही 'ह्' ध्वनि मिलती है। उदाहरण—पुनः, प्रायः, छः आदि।

(२३) ह्—यह सघोष काकल्य घर्ष ध्वनि है। उपर्युक्त से यह केवल इस बात में भिन्न है कि इसके उच्चारण के समय वायु स्वर-तंत्रियों से रगड़ खाकर निकलती है और इस प्रकार सघोष ध्वनि का उच्चारण होता है। सघोष महाप्राण व्यंजनों में यही 'ह' ध्वनि उन्हें महाप्राण बनाती है। उदाहरण—हाथ, कहानी, टोह आदि।

(२४) ख़्—यह जिह्वामूलीय, अघोष, महाप्राण, घर्ष ध्वनि है। यह हिन्दी में अरबी, फारसी से आए हुए शब्दों के तत्सम उच्चारण में प्रयुक्त होती है। यह ध्वनि मूलतः अरबी से आई है। इसका उच्चारण जिह्वामूल और कौआ से होता है, परन्तु इन दोनों का स्पर्श नहीं होता वरन् एक संकीर्ण पथ वायु निकलने के लिए बना रहता है, जिससे घर्षण करती हुई वायु निकलती है। इसीलिए यह घर्ष ध्वनि मानी जाती है। हिन्दी में कहीं कहीं इसके स्थान पर स्पर्श व्यंजन 'ख' का उच्चारण भी किया जाने लगा है। इसका उदाहरण निम्न शब्दों में देखिए—खराब, बुख़ार, बलख़ आदि।

(२५) ग़्—यह जिह्वामूलीय, सघोष, अल्पप्राण घर्ष ध्वनि है। यह भी अरबी से आई है और अरबी, फ़ारसी शब्दों के तत्सम उच्चारण में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में इसके स्थान पर स्पर्श 'ग्' का प्रयोग भी देखा जाता है। उदाहरण—ग़रीब, दाग़, काग़ज़।

(२६)—श्—यह अघोष अल्पप्राण, तालव्य, घर्ष ध्वनि है। यह ध्वनि ऊष्म भी कहलाती है, क्योंकि इसके उच्चारण में 'ऊष्मा' ध्वनि निकलती है। साहित्यिक हिन्दी को छोड़कर हिन्दी की बोलियों में इसका प्रायः वर्त्स्य उच्चारण (श्>स्) हो गया है। उदाहरण—शान्ति, परेशान, वश आदि।

(२७) स्—यह अघोष अल्पप्राण, वर्त्स्य, घर्षध्वनि है। उदाहरण —सेना, कसना, कपास आदि।

(२८) ज़्—यह सघोष, अल्पप्राण, वर्त्स्य, घष ध्वनि है। यह भी विदेशी ध्वनि है और अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी के शब्दों के तत्सम उच्चारण में पाई जाती है। हिन्दी की बोलियों में 'ज़' का 'ज्' हो जाता है। उदाहरण—ज़ुल्म, सीज़र, बाज़ आदि।

(२९) फ़्—यह अघोष, महाप्राण, दन्त्योष्ठ्य घर्ष ध्वनि है। इसके उच्चारण में नीचे के ओंठ और ऊपर की दन्त-पंक्ति एक दूसरे के इतने समीप आ जाते हैं कि वायु बीच से रगड़ती हुई निकलती है और घर्ष ध्वनि फ़् उत्पन्न होती है। यह भी विदेशी ध्वनि है और अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्दों के तत्सम उच्चारण में प्रयुक्त होती है। हिन्दी की बोलियों में इसका स्थान द्वयोष्ठ्य स्पर्श 'फ्' ले लेता है। उदाहरण—फ़स्ल, कफ़न, साफ़, फ़्रेंच, चीफ़ आदि।

(३०) व्—यह सघोष, अल्पप्राण, दन्त्योष्ठ्य, घर्ष ध्वनि है। हिन्दी की बोलियों में इसके स्थान पर 'ब्' का प्रयोग होता है। यह प्राचीन ध्वनि तो है ही, अंग्रेजी से आए हुए शब्दों में भी मिलती है। उदाहरण—वन, चावल, यादव, ऑव आदि।

अनुनासिक

साहित्यिक हिन्दी और हिन्दी की बोलियों में सात अनुनासिक ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। ये हैं—ङ्, ञ्, ण्, न्, न्ह्, म्, म्ह्। अब हम क्रमशः इनका ध्वन्यात्मक वर्णन करेंगे।

(३१) ङ्—यह सघोष, अल्पप्राण, कण्ठ्य, अनुनासिक ध्वनि है। शब्द के मध्य में आने वाले 'क्' के पूर्व यह ध्वनि मिलती है। शब्दारम्भ या शब्दान्त में इसका प्रयोग नहीं मिलता। स्वर सहित 'ङ' भी हिन्दी में नहीं प्रयुक्त होता। नागरी लिपि में प्रायः इसके स्थान पर अनुस्वार का चिह्न लगाया जाता है। इसके उच्चारण में कौआ नीचे की ओर झुक जाता है और वायु नासिका-विवर में प्रवेश

करती है। वहाँ से वह गूँज पैदा करती हुई बाहर निकलती है। इसके उदाहरण देखिए—अङ्क, रङ्क आदि।

(३२) ञ्—यह सघोष, अल्पप्राण, तालव्य, अनुनासिक ध्वनि है। हिन्दी में वस्तुतः अब इस ध्वनि का उच्चारण नहीं मिलता है और जिन तत्सम शब्दों में यह लिखी जाती है उनमें भी 'न्' के समान उच्चरित होती है। नागरी लिपि में आजकल इसके लिए भी अनुस्वार लिखने लगे हैं। उदाहरण—चञ्चल, अञ्जल, आदि।

(३३) ण्—यह सघोष अल्पप्राण, मूर्धन्य अनुनासिक ध्वनि है। स्वर-युक्त 'ण' का प्रयोग तत्सम संस्कृत शब्दों में शब्द-मध्य और शब्दान्त में ही पाया जाता है। हिन्दी में इस ध्वनि के स्थान पर भी प्रायः 'न्' ही सुनाई पड़ता है। नागरी लिपि में इसके लिए भी अनुस्वार देने की प्रथा चल पड़ी है। उदाहरण—तत्सम संस्कृत शब्द—गुण, परिणाम, कण्ठ, पण्डित, घण्टा आदि।

(३४) न्—यह सघोष, अल्पप्राण, वर्त्स्य, अनुनासिक ध्वनि है। इसके उच्चारण में जिह्वानीक का वर्त्स से स्पर्श होता है, अतएव इसे वर्त्स्य ध्वनि मानना ही उचित है। उदाहरण—नमक, कनक, कान, बन्दर आदि।

(३५) न्ह्—यह सघोष महाप्राण, वर्त्स्य अनुनासिक ध्वनि है। पहले इसे विद्वान संयुक्त-व्यंजन मानते थे, परन्तु अब यह मूल महाप्राण व्यंजन ही माना जाता है। उदाहरण—उन्हें, नन्हा, जुन्हैया आदि।

(३६) म्—यह सघोष, अल्पप्राण, द्वयोष्ठ्य अनुनासिक ध्वनि है। उदाहरण—ममता, काम, कमाना आदि।

(३७) म्ह्—यह सघोष, महाप्राण, द्वयोष्ठ्य, अनुनासिक ध्वनि है। इसे भी 'न्ह्' के ही समान अब मूल व्यंजन माना जाता है, संयुक्त व्यंजन नहीं। उदाहरण—तुम्हारा, कुम्हार आदि।

पार्श्विक

पार्श्विक ध्वनियाँ हिन्दी में दो ही हैं—ल् और ल्ह्। इनका ध्वन्यात्मक परिचय निम्न है—

(३८) ल्—यह सघोष, अल्पप्राण, वर्त्स्य, पार्श्विक ध्वनि है। इसके उच्चारण में जिह्वानीक ऊपरी मसूढ़ों को इस प्रकार छूती है कि जिह्वा के दोनों किनारों में स्थान रह जाता है, जिससे वायु बाहर निकल जाती है। उदाहरण—लाभ, जलना, कल आदि।

(३९) ल्ह्—यह सघोष, महाप्राण, वर्त्स्य, पार्श्विक ध्वनि है। हिन्दी की बोलियों में इसका प्रयोग मिलता है। यह भी अब मूल व्यंजन ही माना जाता है। उदाहरण—काल्हि (ब्रज०), कल्ह (बुन्देली) आदि।

लुण्ठित

लुण्ठित ध्वनियाँ भी हिन्दी में दो ही हैं—र्, र्ह्। इनका ध्वन्यात्मक विवरण इस प्रकार है—

(४०) र्—यह सघोष, अल्पप्राण वर्त्स्य लुण्ठित ध्वनि है। इसके उच्चारण में जिह्वा की नोक बेलन की भाँति लपेट खाकर वर्त्स को कई बार जल्दी जल्दी छूती है। उदाहरण—रटना, करना, पार आदि।

(४१) र्ह्—यह सघोष, महाप्राण, वर्त्स्य, लुण्ठित ध्वनि है। यह ध्वनि केवल हिन्दी की बोलियों में ही पाई जाती है। उदाहरण—उर्ह्यानो (ब्रज०) अर्ह्ही (अवधी) आदि।

उत्क्षिप्त

उत्क्षिप्त ध्वनियाँ भी हिन्दी में दो ही हैं—ड़, ढ़। इनका ध्वन्यात्मक परिचय निम्न है—

(४२) ड़—यह सघोष, अल्पप्राण, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनि है।

दसवाँ प्रकरण

हिन्दी के समास

समास की परिभाषा

प्रातिपादकों के अंतर्गत कृदन्त और तद्धित शब्दों के अतिरिक्त समासों की भी गणना की गई है।[1] ये समास दो या दो से अधिक शब्दों के संयोग से बनते हैं। इस प्रकार बने हुए शब्द सामासिक या समस्त कहलाते हैं और इनका संयोग समास कहा जाता है।[2] इन सामासिक शब्दों में सम्मिलित शब्दों को अलग-अलग करना 'विग्रह' कहलाता है। जब दो शब्दों में समास किया जाता है, तो उन शब्दों के बीच में आने वाले और उनका परस्पर सम्बन्ध बताने वाले विभक्ति-चिह्नों का लोप हो जाता है, और जब किसी सामासिक पद का विग्रह किया जाता है तो इस प्रकार लुप्त विभक्ति-चिह्नों का पुनः प्रयोग करना पड़ता है। कभी-कभी समस्त हो जाने पर भी विभक्ति-प्रत्ययों का लोप नहीं होता। ऐसे समास 'अलुक्' समास कहलाते हैं, जैसे—(बंगला में) घोड़ार गाड़ी, मामारबाड़ी आदि। सामासिक पदों में विभक्ति आदि लगाने की आवश्यकता पड़ने पर, उसे सदैव पर-शब्द में लगाते हैं, जैसे—भाई-बहिनों में, राजपुत्रों में, आदि।

समासों का वर्गीकरण

समासों का वर्गीकरण, प्रायः सामासिक शब्द में सम्मिलित, पदों

१—'कृत्तद्धितसमासाश्च।' पाणिनि—अष्टाध्यायी—१-२-४६

२—'तत्र च समसनं समासः।' वरदराज—लघुसिद्धान्त कौमुदी समास प्रकरण।

की प्रधानता अथवा अप्रधानता के आधार पर किया जाता है। समासों के चार मुख्य भेद होते हैं—(१) जिस समास में पूर्व-पद प्रधान होता है, उसे अव्ययी भाव कहते हैं,[1] (२) जिस समास में उत्तर पद प्रधान होता है, उसे तत्पुरुष कहते हैं,[2] (३) जिसमें दोनों पद प्रधान और स्वतंत्र होते हैं, उसे द्वन्द्व कहते हैं,[3] और (४) जिसमें कोई भी पद प्रधान नहीं होता उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं।[4] इन चार भेदों के कुछ उपभेद भी होते हैं। अब हम इन भेदोपभेदों का वर्णन करेंगे।

(१) अव्ययीभाव समास

अव्ययीभाव समास में प्रथम पद प्रधान होता है। इस समास से बना हुआ सम्पूर्ण सामासिक पद क्रियाविशेषण अव्यय के समान प्रयुक्त होता है। संस्कृत में 'यथा', 'आ', 'प्रति', 'यावत्' 'कि' आदि का पूर्व पद के रूप में प्रयोग करके अव्ययी भाव समास बनाए जाते हैं। ऐसे बहुत से शब्द हिन्दी में आ गए हैं; जैसे—यथासम्भव, यथास्थान, यथासाध्य, आजन्म, आमरण, प्रतिदिन, प्रतिमास, यावज्जीवन, व्यर्थ आदि। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष, समक्ष, परोक्ष आदि भी हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी के अपने अव्ययीभाव समास निम्न

१—'प्रायेण पूर्वपदार्थ प्रधानोऽव्ययीभावः।' वरदराज—लघु-सिद्धान्त-कौमुदी समास प्रकरण।

२—'प्रायेणोत्तर पदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः।' वरदराज—लघु सिद्धान्त-कौमुदी—समास प्रकरण।

३—'प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः।' वरदराज—लघु सिद्धान्त-कौमुदी—समास प्रकरण।

४—'प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः।' वरदराज—लघु सिद्धान्त-कौमुदी—समास प्रकरण।

हैं—निडर, निधड़क, भरपेट आदि। हिन्दी में कुछ विदेशी शब्द भी इस प्रकार से प्रयुक्त होते हैं—बेशक, नाहक, हर रोज, हर साल आदि। कुछ मिश्रित कोटि के अव्ययी भाव समास भी मिलते हैं—बेखटके, बेकाम, हर घड़ी आदि।

द्विरुक्ति से भी यह समास होता है। यह द्विरुक्ति अव्ययों की हो सकती है; जैसे धीरे-धीरे, बराबर, बीचोबीच, पहले-पहल कभी-कभी। यह द्विरुक्ति कृदन्तों की भी होती है, जैसे—चलते-चलते, हँसते-हँसते आदि। हिन्दी में इन द्विरुक्त पदों के बीच में 'ही' का प्रयोग भी हो जाता है, जैसे—आप ही आप। संज्ञा की द्विरुक्ति से भी ये सामासिक पद बनते हैं, जैसे—पलपल, रातों रात, हाथों हाथ आदि।

(२) तत्पुरुष समास

तत्पुरुष समास में प्रायः दूसरा पद प्रधान होता है। इसमें पहला पद बहुधा संज्ञा या विशेषण होता है और विग्रह करने पर इसके साथ कर्त्ता और सम्बोधन कारकों को छोड़कर शेष कारकों की विभक्तियाँ आती हैं। इसी आधार पर इसके कर्म-तत्पुरुष, करण तत्पुरुष सम्प्रदान-तत्पुरुष, अपादान-तत्पुरुष, संबंध-तत्पुरुष और अधिकरण-तत्पुरुष—छः भेद होते हैं। क्रमशः उदाहरण देखिए :—

(१) कर्म-तत्पुरुष—आशातीत, जलपिपासु आदि।

(२) करण-तत्पुरुष—भक्तिवश, गुणहीन, अकालपीड़ित, मनमाना, मुँहमाँगा, मदमाता आदि।

(३) सम्प्रदान-तत्पुरुष—कृष्णार्पण, देश-भक्ति, बलि-पशु, राहखर्च, रसोई घर, हथकड़ी, रोकड़-बही आदि।

(४) अपादान-तत्पुरुष—जन्मान्ध, जातिभ्रष्ट, पदच्युत, गुरु-भाई, देश-निकाला, कामचोर आदि।

(५) संबध-तत्पुरुष—राजपुत्र, नरेश, पराधीन, प्रजापति, विद्या-

भ्यास, घुड़दौड़, राजपूत, बैलगाड़ी, राम-कहानी, बन्दरगाह आदि।

(६) अधिकरणान्त तत्पुरुष—गृहस्थ, निशाचर, कविश्रेष्ठ, दान-वीर, देशाटन, गृहप्रवेश, कानाफूसी, मनमौजी, आपबीती आदि।

तत्पुरुष समास के अन्य भेद

तत्पुरुष समास के और भी बहुत से भेद होते हैं। इनमें उपपद समास, नञ् समास, आदि समास, अलुक् समास, नित्य समास और सुप्-सुपा समास तो हैं ही, कर्मधारय और द्विगु भी आते हैं। कर्म-धारय समास तत्पुरुष का ही भेद माना गया है और द्विगु कर्मधारय का।[1] अब हम इनका विवेचन करेंगे—

(क) उपपद समास

जब तत्पुरुष का उत्तरपद एक ऐसा कृदन्त शब्द होता है जिसका स्वतंत्र उपयोग नहीं हो सकता, तो उसे उपपद समास कहते हैं, जैसे—ग्रन्थकार, तटस्थ, कृतज्ञ, कृतघ्न, नृप, कनकटा, चिड़ीमार, पनडुब्बी, घरघुसा, चोबदार, सौदागर, गरीबनिवाज आदि।

(ख) नञ् समास

अभाव या निषेध का अर्थ बताने के लिए शब्दों के पूर्व जब 'अ' अथवा 'अन्' लगाया जाता है, तो नञ् तत्पुरुष समास होता है, जैसे—अधर्म, अन्याय, अनाचार, अनाहत, अनबन, अनचाहा, अनभल, अकाज, अलग, अटूट, अशेष, अधूरा आदि। उर्दू से आए शब्दों में 'ना' और 'ग़ैर' लगाकर यह बनाया जाता है,

---

१. 'तत्पुरुषभेद : कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगुः'। वरदराज—लघु सिद्धान्त-कौमुदी—समास प्रकरण।

जैसे—नापसन्द, नालयक, ग़ैरहाजिर, आदि। कभी-कभी निषेधार्थक 'म' अव्यय से भी नञ् समास बनता है, जैसे—नक्षत्र, नास्तिक, नपुंसक आदि।

(ग) प्रादि समास

तत्पुरुष समास के प्रथम पद के रूप में जब कोई उपसर्ग आता है तो उसे प्रादि समास कहते हैं। यह समास संस्कृत से आए हुए शब्दों में ही मिलता है। उदाहरणार्थ—दुर्गुण, अतिवृष्टि, प्रगति, प्रतिध्वनि प्रतिबिम्ब, प्रबल आदि।

(घ) अलुक समास

जब सामासिक शब्द के प्रथम पद की विभक्ति का समास होने पर भी लोप नहीं होता, तो वह अलुक समास कहलाता है, जैसे—युधिष्ठिर, मनसिज, सरसिज, खेचर, आगे-पीछे चूहेमार आदि।

(ङ) नित्य समास

नित्य समास ऐसे सामासिक पद को कहते हैं जिसका या तो विग्रह ही नहीं होता है या अपने पदों से भिन्न पदों के उपयोग से होता है।[1] ऐसे समास संस्कृत में होते हैं। हिन्दी में इनका प्रायः अभाव है।

(च) कर्मधारय समास

जब तत्पुरुष समास के विग्रह में दोनों पदों में एक ही विभक्ति (प्रथमा) आती है, तो उसे कर्मधारय समास कहते हैं। कर्मधारय समास तत्पुरुष का ही एक भेद होता है और तत्पुरुष से इसी बात में

---

१. 'अविग्रहो नित्य समासः अस्वपद विग्रहो वा।' भट्टोजि दीक्षित—सिद्धान्त कौमुदी—समास प्रकरण।

भिन्न है कि तत्पुरुष में विग्रह करने पर दोनों पदों में भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ आती हैं, परन्तु कर्मधारय में एक ही विभक्ति, प्रथमा। इसके कई प्रकार होते हैं, जिनका नीचे वर्णन किया जा रहा है।

(१) साधारण कर्मधारय समास—इसके निम्न भेद होते हैं:—

(i) जहाँ प्रथम पद विशेषण हो, जैसे—कच्चा केला, महारानी, महाजन, नीलकमल, पीताम्बर, भलामानुस, कालापानी, खुशबू, बदबू आदि।

(ii) जहाँ उत्तर पद विशेषण हो, जैसे—घनश्याम, नराधम, पुरुषोत्तम आदि।

(iii) जहाँ दोनों पद विशेषण हों, जैसे—श्यामसुन्दर, शीतोष्ण, लाल-पीला आदि।

(iv) जहाँ दोनों पद विशेष्य हों, जैसे—राजा बहादुर, मौलवी साहब आदि।

(v) अवधारण पूर्वपद—जहाँ पर प्रथम पद के अर्थ पर उत्तर पद का अर्थ आश्रित हो, जैसे—कालसर्प, गुरुदेव, पुरुषत्व आदि।

(vi) अवधारणोत्तर पद—जहाँ पर उत्तर पद के अर्थ पर ही पूर्व पद का अर्थ अवलम्बित हो, जैसे—साधु-समाज प्रयाग।

(vii) जहाँ प्रथमपद सर्वनाम अथवा उपसर्ग हो, जैसे—स्वदेशी, दुतल्ला, कपूत आदि।

(viii) विषयपूर्व पद, जैसे—विन्ध्य पर्वत (विन्ध्य नामक पर्वत)।

(ix) अव्यय-पूर्व पद, जैसे—दुर्वचन, निराशा, सुयोग, अधमरा, दुकाल आदि।

(२) मध्यमपदलोपी कर्मधारय—इस समास में प्रथम पद और उत्तर पद का संबंध बताने वाला दोनों के मध्य में स्थित पद लुप्त हो

जाता है। यह दोनों पदों के बीच में स्थित पद जब तक विग्रह में उल्लिखित नहीं किया जाता, विग्रह हो ही नहीं सकता। मध्य में स्थित इस प्रकार के पद के लुप्त होने के कारण इसे मध्यमपदलोपी समास कहते हैं। उदाहरण देखिए—घृतान्न, पर्णशाला, दही-बड़ा' दूधभात, जेब घड़ी, गुड़धानी, गोबर-गनेश, चितकबरा आदि।

(३) उपमान-पूर्वपद—जब उपमान प्रथम पद के रूप में आता हैं, जैसे—चन्द्रमुख, घनश्याम, प्राणप्रिय, वज्रदेह आदि।

(४) उपमानोत्तर पद— जब उपमान उत्तर पद में प्रयुक्त हो, जैसे—राजर्षि, चरण-कमल, पाणि-पल्लव आदि।

(छ) द्विगु समास

द्विगु समास कर्मधारय का ही एक भेद माना जाता है। इसमें पूर्वपद संख्यावाचक होता है और सामासिक पद से समाहार या समुदाय का बोध होता है, जैसे—त्रिभुवन, त्रैलोक्य, पंचवटी, अष्टाध्यायी, नवरत्न, चौराहा, चौमुहानी आदि।

(ज) द्वन्द्व समास

द्वन्द्व शब्द का अर्थ है, 'युग्म' 'जोड़ा'। तात्पर्य यह है कि द्वन्द्व समास के पदों में युग्मवाची शब्दों का समास किया जाता है। इसमें दोनों पद प्रधान होते हैं और उनका उद्देश्य समाहार होता है। इस प्रकार के सामासिक पदों का विग्रह 'और' 'तथा' 'एवं' आदि समुच्चय-बोधक अव्यय-पदों के द्वारा सम्पन्न होता है। यह समास मुख्यतः तीन प्रकार का होता है—इतरेतर द्वन्द्व, समाहार द्वन्द्व और वैकल्पिक द्वन्द्व। अब इनका विवेचन किया जायगा।

(क) इतरेतर द्वन्द्व

जब समास के सभी पद 'और', 'एवं', 'तथा' आदि समुच्चय बोधक अव्यय से जोड़े गए हों और इनका लोप हो गया हो, तो द्वन्द्व समास होता है, जैसे राधाकृष्ण, सीताराम, भाईबहिन, माँ-बेटी,

बाप-बेटा, माँ-बाप, दूध-रोटी, दाल-भात, घी-गुड़, चिट्ठी-पाती, बेटा-बेटी, खान-पान, नोंन-मिर्च, हुक्का-पानी आदि।

(ख) समाहार द्वन्द्व

जब सामासिक पद से उसके पदों के अर्थ के अलावा उस समूह के सभी पदार्थों की भी सूचना हो जाय, तो उसे समाहार द्वन्द्व कहते हैं, जैसे—लूट-मार, साग-पात, भला-चंगा आदि। इस प्रकार के समास प्रायः चार प्रकार के होते हैं—(i) जब एक ही वस्तु के दो पर्यायवाची शब्दों में समास हो, जैसे—भूत-प्रेत, बाल-बच्चा, चाल-चलन, घास-फूस, हृष्ट-पुष्ट, चमक-दमक आदि। (ii) जब मिलते-जुलते अर्थ वाले पदों में समास हो, जैसे—आचार-विचार, घर-द्वार, नाच-रंग, खाना-पीना, अन्न-जल, पान-फूल आदि। (iii) जब परस्पर विरोधी अर्थ वाले पदों में समास हो, जैसे—कहा-सुनी, चढ़ा-उतरी, लेन-देन, आगा-पीछा आदि। (iv) जब सामासिक शब्द का कोई एक पद सार्थक और दूसरा अर्थहीन तथा पहले के वजन पर बनाया गया हो, जैसे—बातचीत, अड़ोस-पड़ोस, आमने-सामने आस-पास, अदल-बदल, रोटी-ओटी, गाँव-भाँव आदि।

(ग) वैकल्पिक द्वन्द्व

जब दो पद 'वा' अथवा, आदि विकल्प सूचक समुच्चय बोधक अव्यय से युक्त हों और उनमें समास हो जाय, तो उसे वैकल्पिक द्वंद्व कहते हैं। इस समास में प्रायः परस्पर विरोधी अर्थ वाले पद एक साथ समस्त किए जाते हैं, जैसे—जात-कुजात, धर्माधर्म, पापपुण्य, ऊँच-नीच, भला-बुरा आदि।

(४) बहुव्रीहि

बहुव्रीहि समास में कोई भी पद प्रधान नहीं होता और सामासिक पद किसी अन्य पदार्थ का बोध कराता है। इसके विग्रह में जो, जिसका, जिससे, जिसको आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं, जैसे—चन्द्र-

मौलि, कृतकार्य आदि। बहुव्रीहि समास के सामासिक पद का प्रयोग किसी अन्य संज्ञा के विशेषण के रूप में होता है। कर्मधारय समास के दो पदों में से एक विशेषण होता है, दूसरा उसका विशेष्य, जैसे, पीताम्बर अर्थात् 'पीला कपड़ा', परन्तु बहुव्रीहि में दोनों पद समस्त होकर किसी अन्य के विशेषण होते हैं, जैसे, 'पीताम्बर' 'पीला है कपड़ा जिसका'। इस समास के दो प्रमुख भेद हैं—व्यधिकरण बहुव्रीहि और समानाधिकरण बहुव्रीहि।

(क) व्यधिकरण बहुव्रीहि

व्यधिकरण बहुव्रीहि के सामासिक पद का विग्रह करने पर दोनों के साथ भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ आती हैं। इसमें कर्त्ता और संबोधन कारक की विभक्तियों को छोड़ कर सभी का प्रयोग होता है। सबके उदाहरण क्रमशः देखिए—

(i) कर्मबहुव्रीहि—प्रासोदक, आरूढ़वानर, (इस प्रकार के समासों का हिन्दी में अभाव है)

(ii) करण बहुव्रीहि—कृतकार्य, दत्तचित्त, प्राप्तकाम आदि।

(iii) सम्प्रदान बहुव्रीहि—दत्तधन, उपहृतपशु, (इसका भी हिन्दी में प्रायः अभाव है)

(vi) अपादान बहुव्रीहि—लुप्तपद, निर्जन, निर्विकार, विमल, निर्मल आदि।

(v) संबंध बहुव्रीहि—चतुर्भुज, नीलकण्ठ, चन्द्रमौलि, दशानन, चक्रपाणि, पतिव्रता, कनफटा, हँसमुख, अनमोल, मनचला, बड़भागी, दुधमुँहा आदि।

(vi) अधिकरण बहुव्रीहि—स्वरान्त, प्रफुल्लकमल, पतझड़, सतखण्डा आदि।

(ख) समानाधिकरण बहुव्रीहि

समानाधिकरण बहुव्रीहि के सामासिक पद का विग्रह करने

पर दोनों पदों के साथ एक ही विभक्ति आती है। इसमें भी कई प्रकार के समास आते हैं। ये निम्न हैं—

(i) विशेषण पूर्वपद—पीताम्बर, मन्दबुद्धि, दीर्घबाहु, लगातार, बड़पेटा आदि।

(ii) विशेषणोत्तरपद—शाकप्रिय, कनफटा, मनचला आदि।

(iii) उपमान पूर्वपद—चन्द्रमुखी, राजीव-लोचन, पाषाणहृदय आदि।

(iv) विषय पूर्वपद—शिवशब्द, अहमभिमान (इसका हिन्दी में प्रयोग नहीं होता)।

(v) अवधारणा पूर्वपद—यशोधन, तपोबल, विद्याधन आदि।

(vi) मध्य-पद लोपी—कोकिलकण्ठी, गजानन, मुद्राराक्षस, मृगनेत्रा, डेढ़गजा, घुड़मुँहा, भौंरकली, हाथीपाँव आदि।

(vii) संख्या पूर्वपद—त्रिभुज, पचानन, चौकोन, पंजाब, दो-आब आदि।

(viii) संख्योत्तर पद—त्रिसप्त, नवपंच, उपदेश, ऊनविंशति आदि।

(ix) सहबहुव्रीहि—सपरिवार, सपुत्र, सदेह, सफल, सार्थक आदि।

(x) दिगंतराल बहुव्रीहि—दक्षिणपूर्व, पश्चिमोत्तर आदि।

(xi) नञ् बहुव्रीहि—असार, अनाथ, अव्यय, अद्वितीय, अद्वैत आदि।

(xii) व्यतिहार बहुव्रीहि—जिसमें परस्पर सापेक्ष-क्रिया को प्रकट करने के लिए एक ही शब्द की पुनरुक्ति की गई हो, जैसे मुष्टामुष्टि, मारामारी, धक्काधक्की, मुक्कामुक्की, घूँसाघूँसी आदि।

(xiii) प्रादि बहुव्रीहि—विफल, विधवा, कुरूप, सुडौल, कुढंगा आदि।

ग्यारहवाँ प्रकरण

देवनागरी लिपि की उत्पत्ति और विकास

सिन्धुघाटी सभ्यता की लिपि

हम आज तक यह भले ही न निश्चय कर पाए हों कि मनुष्य ने लिखना कैसे सीखा परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि लिखने की कला का आविष्कार मानव की बहुत बड़ी उपलब्धि है। इससे सभ्यता और संस्कृति के संरक्षण तथा प्रसार में एवं ज्ञान के आदान-प्रदान में बड़ी सहायता मिली है। भारतवर्ष में इसका प्रचार बहुत प्राचीन काल से रहा है। सिन्धु नदी की घाटी में जो पुरातत्व विषयक सामग्री प्राप्त हुई है इसमें बहुत सी मुद्राओं आदि पर एक विचित्र लिपि में कुछ लिखा मिला है। यह आलेखन चित्रों तथा भाँति-भाँति के कीलाक्षरों से युक्त है। विभिन्न लिपि-विशेषज्ञों के अनुसार यहाँ की लिपि के प्रतीकों की संख्या प्रायः ३०० के आस-पास है। विद्वानों का यह विचार है कि यह अंशतः भावात्मक और अंशत ध्वन्यात्मक प्रतीकों से युक्त लिपि थी। इस लिपि के प्रतीकों में प्राचीन ऐलामीय तथा क्रेटीय मुद्राओं के प्रतीकों से अनुरूपता प्रतीत होती है। विद्वानों की दृष्टि में यह सभ्यता प्रायः ईसापूर्व पाँच हजार साल की है और उस समय तक यहाँ के निवासी लिखने की कला से पूर्णतः परिचित ही नहीं हो गए थे, वरन् उसमें दक्षता प्राप्त कर चुके थे।

अन्य प्राचीन भारतीय लिपियाँ—ब्राह्मी और खरोष्ठी

सिन्धु घाटी लिपि के अतिरिक्त प्राचीन भारत में आर्यों के आगमन के उपरान्त दो और लिपियाँ प्रचलित हुईं। ये लिपियाँ

ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। चीनी परम्पराओं के अनुसार ये दोनों लिपियाँ भारतीय आर्यों की स्वतंत्र उद्भावना एवं विकास हैं। परंतु विदेशी, विशेषतः अंग्रेज, विद्वानों के विचार से ये दोनों विदेशी लिपियाँ हैं। ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम लेख ५०० ई० पू० से पहले के नहीं मिलते और खरोष्ठी का उपयोग तो भारतवर्ष में अशोक-कालीन शिलालेखों में ही मिलता है। इसी आधार पर इन विद्वानों की धारणा है कि भारतीय आर्य बहुत समय तक लिखना नहीं जानते थे और ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में फोनीशियन अथवा सेमेटिक लोगों से व्यवसाय और व्यापार के सिलसिले में उन्होंने लिखना सीखा था। परन्तु ये विचार कितने भ्रमपूर्ण तर्कों पर आधारित हैं, यह आगे चलकर सिद्ध किया जायगा। खरोष्ठी लिपि को तो प्रायः सभी विद्वान विदेशी सेमेटिक लिपि से उद्भूत मानते आए हैं। परन्तु इधर कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनके आधार पर अब ऐसा मानना पड़ता है कि वह भी भारतीय लिपि ही थी।

वैदिक-युग में लेखन-कला के प्रचलन के प्रमाण

यद्यपि ब्राह्मी लिपि में लिखित सामग्री ईसापूर्व ५०० से पहले की नहीं मिलती, परन्तु इस बात के प्रमाण बहुत प्राचीनकाल से ही मिलने लगते हैं कि भारतवर्ष में लिखने की कला प्रचलित थी। इतना विशाल वैदिक वाङ्मय केवल कण्ठस्थ कर के मौखिक परंपरा से ही सुरक्षित रखा गया होगा, ऐसा नहीं समझ पड़ता। यद्यपि वेदों के लिए प्रयुक्त शब्द 'श्रुति' से यह अनुमान लगाया गया है कि वेदों को कण्ठस्थ करके ही सुरक्षित रखा गया था, परन्तु समस्त वैदिक वाङ्मय अर्थात् वैदिक गद्य, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथ, सूत्र-साहित्य और इससे भी अधिक वेद-कालीन व्याकरण आदि सभी 'श्रुत' ही थे, यह सम्भव नहीं हो सकता है। ब्राह्मी की विदेशी उत्पत्ति के महान् समर्थक डा० बूलर ने भी स्वीकार किया है कि यह अनुमान अकाट्य

है कि वैदिक काल में भी लिखित ग्रंथों का उपयोग शिक्षा तथा अन्य कार्यों में होता था। बोधलिंग नामक विद्वान् का मत है कि साहित्य के प्रचार के लिए नहीं परन्तु नए ग्रंथों के प्रणयन के लिए लेखन-पद्धति का उपयोग इस युग में किया जाता था। ऐसा लगता है कि संहिता ग्रंथ तो कण्ठस्थ ही किए जाते थे परन्तु अन्य सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय लिखित रूप में ही था। वैदिक छन्दों की परिगणना, निरुक्ति तथा व्याकरण की चर्चा, ध्वनि-शिक्षा, पारिभाषिक शब्दों पर विचार तथा गणक का उल्लेख, जो दश से खर्व तक की संख्याओं में गणना करता था—सभी इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि वैदिक युग के आर्य लिखने पढ़ने की कला में पारंगत थे।

परवर्ती युग में लेखन कला के प्रचलन के प्रमाण

बौद्धकाल में भी इस बात के प्रमाण हैं कि भारत में व्यवस्थित ढंग से लेखन कार्य होता था। विनय पिटक में लेखन कला की प्रशंसा की गई है और जातक-ग्रंथों में पोत्थक का तथा राजकीय-पत्रों आदि का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त महाभारत, स्मृति-ग्रंथ, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, कामसूत्र आदि पूर्ववर्ती तथा परवर्ती-सभी ग्रंथों में लेखन-कला का उल्लेख मिलता है।

इस संबंध में विदेशी प्रमाण

मौर्ययुग तक तो इस बात के प्रमाण विदेशी लोगों के आधार पर भी मिलने लगते हैं। एलेक्जेंडर के सेनापति निआर्कस का कथन है कि भारतीय लिखना जानते थे और रूई को कूट कूटकर कागज बनाते थे तथा हाथी दाँत, शंख आदि से उसे चिकना करते थे। मेगस्थनीज़ ने जन्म-पत्र, पंचाग, दूरी बताने वाले पाषाण आदि का उल्लेख किया है और बताया है कि न्याय स्मृतियों के आधार पर होता था।

प्राचीन लिपि बद्ध ग्रंथ न मिलने के कारण

इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि भारतवर्ष में लेखन कला का प्रारम्भ ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से बहुत पहले, कम से कम हजार वर्ष पहले, तो हो ही चुका था। अब प्रश्न यह रह जाता है कि यह सब लिखित सामग्री हुई क्या? स्पष्ट है कि वह लुप्त हो गई। एक तो भारत की उष्ण जलवायु में भोजपत्र आदि के नष्ट हो जाने की बड़ी सम्भावना रही है दूसरे विदेशी आक्रमणों के समय मुसलमानों ने भारतीय वाङ्मय के बड़े बड़े पुस्तकालयों को जला डाला। इनमें वह सब स्वाहा हो गई और आज अंग्रेज विद्वान कहते हैं कि भारतीय तो पाँचवीं-छठी शती ईसा पूर्व से पहले लिखना-पढ़ना ही न जानते थे।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति और उसका विकास किस प्रकार हुआ। इस संबंध में दो प्रकार के विचारक मिलते हैं—एक तो उन विद्वानों का दल है जो ब्राह्मी को निश्चय ही विदेशी अनुकृति से विकसित मानते हैं और दूसरे उन विद्वानों का समुदाय है जो इसे भारत की स्वदेशी लिपि मानते हैं। अब हम दोनों प्रकार के विद्वानों के मतों का निष्कर्ष संक्षेप में देंगे।

ब्राह्मी लिपि का किसी विदेशी लिपि से विकास

ब्राह्मी के विदेशी उद्भव-संबंधी विचारों को दो समूहों में रखा जा सकता है—(१) ग्रीक लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति, और (२) सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति। सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानने वाले विद्वानों में इस विषय में मतैक्य नहीं है कि सामी की किस शाखा से उसकी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के मत मिलते हैं—(अ) उत्तरी सेमेटिक लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति,

(आ) दक्षिणी सेमेटिक लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति, और (इ) फोनेशियन लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति। अब हम इन मतों पर विचार करेंगे।

(१) ग्रीक लिपि से ब्राह्मी का उद्भव

मूलर, प्रिंसेप, सेनार्ट, जोसेफ़ हाल्वे और विल्सन आदि विद्वान इस मत के समर्थक रहे हैं। इन लोगों का विचार था कि ब्राह्मी लिपि का प्रचलन भारत में ईसा पूर्व पाचवीं शताब्दी के लगभग हुआ था, परन्तु इसके बाद अन्य विदेशी विद्वानों को भारत में ब्राह्मी के प्रचलन का समय अधिक पुराना समझ पड़ा और बूलर ने इस सिद्धान्त का खण्डन करके इसे सर्वथा अमान्य कर दिया। अब इसका केवल ऐतिहासिक मूल्य मात्र रह गया है।

(२) सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति

हम पहले ही कह चुके हैं कि इस संबंध में तीन विचारधाराएँ प्रचलित रही हैं—(क) दक्षिणी सामी से ब्राह्मी का विकास, (ख) उत्तरी सामी से ब्राह्मी का विकास, (ग) फोनेशियन लिपि से ब्राह्मी का विकास।

(क) दक्षिणी सामी से ब्राह्मी का विकास—टेलर, डिके, केनन आदि ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ब्राह्मी का विकास दक्षिणी सामी से हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि प्राचीन काल में भी अरब देशों से आर्यों का संबंध रहा है परन्तु दक्षिणी सामी लिपि में तथा ब्राह्मी में कोई भी साम्य नहीं मिलता वरन् दोनों में इतना अन्तर दिखाई पड़ता है कि इन दोनों को संबंधित करने का प्रयास हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। डा० बूलर प्रभृति विद्वानों ने इसका बड़ा तर्क पूर्ण खण्डन किया है।

(ख) उत्तरी सामी से ब्राह्मी का विकास—डा० बूलर तथा डा० डिरिंगर इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक रहे हैं। दक्षिणी सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति की असम्भावनाओं की ओर संकेत करते हुए बूलर कहते हैं "जब हम उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में विचार करते हैं, तो ये कठिनाइयाँ आसानी से दूर हो जाती हैं। × × × अब इस सिद्धान्त को मानने में कोई कठिनाई नहीं रही कि सामी-चिह्नों को किस प्रकार भारतीय प्रतीकों में परिवर्तित किया गया होगा।" बूलर के अनुसार ब्राह्मी में ये विशेषताएँ मिलती हैं—(i) ब्राह्मी के सभी वर्ण प्रायः सीधे हैं और सभी (ट, ठ, ब को छोड़कर) की ऊँचाई भी प्रायः समान है। (ii) ब्राह्मी के वर्ण अधिकांशतः ऊपर से नीचे की ओर लम्बवत् हैं; उनमें जोड़ ऊपर तथा नीचे मिलते हैं, केवल ऊपर नहीं। बूलर का विचार है कि भारतीय ब्राह्मी वर्णों को, नीचे आने वाली लम्बवत् रेखा की सहायता से, नीचे की ओर लटकते हुए रूप में, लिखते थे। ऊपर की पट रेखा स्वरों का प्रतिनिधित्व करती थी। वर्णों को ऊपर के जोड़ से मुक्त करने से सामी वर्ण प्रायः उलट गए और साथ ही सामी के दाँए से बाँए लिखने के स्थान पर ब्राह्मी को बाँए से दाहिने लिखने के कारण भी कुछ परिवर्तन हो गए। बूलर के अनुसार २२ वर्ण उत्तरी सामी से, कुछ प्राचीन फोनेशियन से और ५ असीरिया के बाटों से लिए गए। कुछ अन्य परिवर्तनों के साथ कतिपय और विदेशी वर्ण आ गए और इस प्रकार ब्राह्मी का विकास हुआ।

इस मत के दूसरे प्रबल समर्थक डा० डिरिंगर का विचार है कि "किसी प्रकार भी, भारतीय लिपि, इस देश के लोगों की स्वतंत्र उद्भावना नहीं हो सकती। यह अवश्य है कि बाहर से लेकर उसमें भारतीयों ने अद्भुत और आश्चर्यजनक परिवर्तन किए।" और "इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि स्वर और व्यंजन ध्वनियों के प्रतीकों से युक्त विशुद्ध वर्णात्मक ब्राह्मी लिपि पश्चिमी एशिया की

लिपि से ही विकसित हुई है।"[1] इसके लिए डिरिंगर महोदय के तर्क निम्नलिखित हैं—(i) दोनों लिपियों में बड़ा साम्य है। (ii) प्राचीन भारतीय लिपि (सिन्धु घाटी की लिपि) चित्रात्मक थी और वर्णात्मक लिपि चित्रात्मक लिपि से तो विकसित हो ही नहीं सकती। ज्ञात लिपियों में सामी ही एक ऐसी वर्णात्मक लिपि है जिससे ब्राह्मी का विकास हुआ है। (iii) मूलतः ब्राह्मी भी दाहिने से बाएँ लिखी जाती थी। (iv) ५०० ई० पू० से पहले के कोई लिखित प्रमाण भारत में नहीं मिलते।

बूलर तथा डिरिंगर के मतों का खण्डन डा० राजबली पाण्डेय ने भली भाँति किया है।[2] इस विषय में उनके तर्क निम्न हैं—(i) इसमें सन्देह नहीं कि दोनों के प्रतीकों में कुछ साम्य हैं, परन्तु इतने साम्य मात्र से ही यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी से हुई है। विशेषतः बूलर ने इसे सिद्ध करने के लिए सामी प्रतीकों को जिस प्रकार उलटा पलटा है और सब वर्णों को विभिन्न स्रोतों से प्राप्त बतलाया है, उससे तो यह नितान्त असंगत ही प्रतीत होता है।

(ii) यह कहना उचित नहीं कि चित्रलिपि से वर्णात्मकलिपि विकसित नहीं हो सकती। वस्तुतः लिपि के इतिहास में चित्रलिपि ही प्राथमिक युग में मिलती है और अन्य लिपियाँ विकसित अवस्था की परिचायक हैं, अतएव दोनों में दो विकास के स्तरों का ही भेद है। फिर सिंधुघाटी-लिपि विशुद्ध चित्रलिपि न हो कर मिश्रित लिपि है और इसमें ध्वन्यात्मक (अक्षरात्मक) लिपि के उपादान भी वर्तमान हैं। अतएव यह मानना ही अधिक उचित है कि ब्राह्मी का अक्षरात्मक लिपि के रूप में विकास का पूर्वरूप यही सिन्धुघाटी-लिपि

---

1. Dr. David Diringer—Alphabet—P. 335—340.
2. Dr. Raj Bali Pandey—Indian Palaeography—Pages 40—41.

है। (iii) तीसरा तर्क, कि ब्राह्मी भी मूलतः दाहिने से बाएँ लिखी जाती थी, केवल निम्न प्रमाणों पर आधारित है—अशोक अभिलेख के कुछ अक्षर, यरगुड़ी में प्राप्त अशोक का शिलालेख, एरण की मुद्रा। वस्तुतः यह सामग्री किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए अत्यल्प है और साथ ही जब उसी समय के बाएँ से दाहिने लिखने के नमूने प्रभूत मात्रा में मिलते हों। ऐसा प्रतीत होता है कि साँचे बनानेवालों की भूल से ये लेख उलट गए हैं। हुल्श और फ्लीट ने इसीलिए बूलर के इस तर्क को नहीं स्वीकार किया है। (iv) ईसा पूर्व ३५०० के सिंधुघाटी लिपि के नमूनों के बाद ५०० ई० पू० तक उनका न मिलना केवल इस सम्भावना का ही अधिक पोषक है कि इस बीच के नमूने भौगोलिक अथवा राजनैतिक परिस्थितियों के कारण लुप्त हो गए हैं। साथ ही इस बात के परोक्ष साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध हैं कि यहाँ लेखनकला का प्रचलन इस बीच के समय में रहा है।

इस प्रकार यह तो सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी से हुई होगी वरन् इसके विपरीत ब्राह्मी के स्वतंत्र विकास के प्रमाण अधिक मिलते हैं, जिनपर आगे विचार करेंगे।

(ग) **फोनेशियन लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति**—वेबर, बूलर तथा जेन्सेन् ने ब्राह्मी का संबन्ध फोनेशियन से भी माना है। इसका मुख्य कारण यह है कि दोनों के एक तिहाई प्रतीकों में सादृश्य है, परन्तु शेष प्रतीकों में कोई प्रत्यक्ष साम्य नहीं है। हाँ, परोक्षतः खींच तान कर यह साम्य और प्रभाव सिद्ध हो जाता है। इस संबन्ध में डा० राजबली पाण्डेय का विचार है[1] कि फोनेशियन जाति की उत्पत्ति वस्तुतः भारत से गए हुए आर्यों से ही हुई है। ग्रीस का प्राचीन इतिहास बतलाता है कि फोनेशियन लोग, पूरब की ओर से

1—Dr. Raj Bali Pandey—Indian Palaeography—Pages 40-41.

आए थे और ऋग्वेद से भी यह बात सिद्ध होती है कि ये मूलतः भारत के निवासी थे। यही कारण है कि फोनेशीय और अन्य सामी लिपियों में पर्याप्त अन्तर है। फोनेशियन लोग भारत में जाते समय ही लिपि लेते गए थे परन्तु बाद को वहाँ रहने के कारण उन पर कुछ तो सामी लिपियों का प्रभाव पड़ा और कुछ स्वतंत्र विकास हुआ। इस प्रकार दोनों में भेद आ गया। डा० पाण्डेय का तो विचार है कि ब्राह्मी के प्राचीन स्वरूप से, जिसके नमूने अब नष्ट हो जाने के कारण अनुपलब्ध हैं, फोनेशियन और आर्माइक लिपियों का विकास हुआ है।

ब्राह्मी लिपि की वैदिक उत्पत्ति

कनिंघम, डाउसन, लैसन तथा ओझा आदि का विचार है कि वैदिक युग में ऋषियों ने प्राचीन भारतीय चित्रलिपि से ब्राह्मी को विकसित किया। इस मत के प्रबल आलोचक बूलर तथा डिरिंगर प्रभृत्ति विद्वान रहे हैं जिनके मतों के विषय में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। ब्राह्मी लिपि के स्वदेशी विकास के सिद्धान्त का पुनः सबल तर्कों पर प्रतिपादन डा० पाण्डेय ने अपने ग्रंथ 'इंडियन पैलिओग्रैफी' में किया है। उनके अनुसार ब्राह्मी की निम्न विशेषताएँ उसे सामी आदि विदेशी लिपियों से भिन्न और स्वतंत्र रूप से विकसित सिद्ध करती हैं। (i) इसमें सभी वर्ण जिस प्रकार उच्चरित होते हैं, उसी प्रकार लिखे जाते हैं। (ii) सभी उच्चरित ध्वनियों के लिए निश्चित चिह्न या प्रतीक हैं। (iii) ध्वनियों के उच्चारण-स्थान के अनुसार इसके वर्ण सजाए गए हैं। (iv) स्वरों और व्यंजनों की संख्या पर्याप्त है (v) ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के लिए भिन्न-भिन्न चिह्न हैं। (vi) स्वरों और व्यंजनों का संयोग मात्राओं के द्वारा होता है (vii) अनुस्वार, अनुनासिक और विसर्ग के लिए भी चिह्न हैं।

इन विशेषताओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि ब्राह्मी लिपि का विकास भारतवर्ष में ही हुआ है और इसका विकास करने वाले व्याकरण तथा ध्वनि-शिक्षा में पारंगत वैदिक ब्राह्मण गण ही थे। इसके विकास का मूल और प्राथमिक रूप सिन्धुघाटीलिपि में वर्तमान है और उसी से इस ध्वन्यात्मक लिपि का विकास हुआ है।

ब्राह्मी लिपि का विकास—

मौर्य युगीन ब्राह्मी

मौर्य-युग के अन्त तक ब्राह्मी लिपि का प्रसार सम्पूर्ण भारत में हो चुका था। सम्राट चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण भारत को अपने शासन के अन्तर्गत लाकर उसे राजनैतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में आबद्ध कर दिया था और अशोक ने अपने धर्म प्रचार तथा अन्य इसी प्रकार के कार्यों से सांस्कृतिक एकता का निर्माण किया था। उसी समय यह लिपि सम्पूर्ण भारत के कोने कोने में फैल गई। इतना ही नहीं, धर्म प्रचारकों के साथ यह लिपि इसी युग में सिंहल भी जा पहुँची। इस युग तक ध्वनि का विकास पूर्ण रूप से हो चुका था, केवल द्वित्व व्यंजनों को लिखने में यह असमर्थ थी।

गुप्त-ब्राह्मी लिपि

मौर्य-युग के उपरान्त इसका निरन्तर विकास होता रहा और चौथी शताब्दी ईसा तक इसने एक भिन्न रूप धारण कर लिया। यह विकसित रूप गुप्त-लिपि या गुप्त-ब्राह्मी कहलाया। इसी युग में सांस्कृतिक दृष्टि से वृहत्तर भारत का निर्माण हुआ और यह लिपि एक ओर दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में पहुँची और दूसरी ओर मध्य-एशिया में फैली। मध्य एशिया में पुरानी खोतनी, ईरानी तथा तोखारी भाषाएँ इसी में लिखी गईं। दक्षिण-पूर्व एशिया में इसका प्रभाव

अधिक गहरा पड़ा और आजकल दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रयुक्त बहुत सी, प्रायः सभी, लिपियाँ इसी से विकसित हुई हैं।

न्यूनकोणीय लिपि

गुप्त-ब्राह्मी की पश्चिमी शाखा की पूर्वी उपशाखा से छठवीं शती तक सिद्धमात्रिका लिपि विकसित हुई। इसे न्यूनकोणीय लिपि भी विद्वानों ने कहा है।

प्राचीन शारदा, नागरी और कुटिल लिपियाँ

सातवीं शती के आसपास उत्तरी भारत की राजनैतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई और छोटे-छोटे स्थानीय राज्य स्थापित हो गए। इस विशृंखलता के युग में लिपि में भी अधिक तीव्रता के साथ परिवर्तन हुआ। और उत्तरी भारत की लिपि के तीन स्वरूप विकसित हुए—शारदा, नागरी और कुटिल। इन्हीं लिपियों से आधुनिक उत्तर भारतीय लिपियों का विकास हुआ।

शारदा से विकसित काश्मीरी, टक्री, लण्डा आदि लिपियाँ

उत्तर-पश्चिमी भारत, काश्मीर, पंजाब, सिंध में इसका प्रसार हुआ। इसके प्रमुख रूप हैं—काश्मीरी, टक्करी, गुरुमुखी और लण्डा। काश्मीरी लिपि का काश्मीर प्रदेश में प्रचार है। काश्मीरी के अतिरिक्त डोग्री, चमेआली, सिरमौरी, जौकसारी, कोछी, कुल्लुई और कश्टवारी लिपियाँ पश्चिमी पहाड़ी भाषाओं के क्षेत्र में प्रचलित हैं और वहीं लिखने के काम में आती हैं। ये प्रायः टक्करी से विकसित हुई हैं। टक्करी या टक्री टक्क लोगों की लिपि थी, जो आधुनिक स्यालकोट प्रदेश में निवास करते थे। इसका विकास अपेक्षाकृत प्राचीन है। इसका उपयोग पंजाब में निम्न श्रेणी के

व्यापारियों में होता है परन्तु इसका प्रचार धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। लण्डा लिपि का प्रचलन सिंध और पंजाब के कुछ भागों में है। यह सिन्धी तथा लहंदा भाषाएँ लिखने के लिए प्रयुक्त होती है। इसका सर्वाधिक प्रचलन व्यवसायियों तथा व्यापारियों में है। टक्री की भाँति यह भी एक अपूर्ण लिपि है और इसे भी पढ़ने में कठिनाई होती है। इसके दो स्थानीय भेद हैं—सिन्धी लिपि, जिसका प्रयोग सिन्ध में रहने वाले सिन्धी करते रहे हैं और मुल्तानी लिपि, जो मुल्तानी बोली लिखने के काम में आती रही है। इसी लण्डा लिपि में सुधार करके सिक्खों के दूसरे गुरु श्री अंगददेव ने सोलहवीं शती के पूर्वार्ध में गुरुमुखी लिपि का निर्माण किया था। यह सिक्खों की लिपि है और पंजाब तथा पंजाबेतर प्रदेश में सिक्ख लोग इसका व्यवहार करते हैं।

बंगला लिपि

कुटिल लिपि का प्रसार पूर्वी उत्तर-भारत में हुआ। इससे कैथी, मैथिली, बंगला, आसामी, उड़िया, नेपाली तथा मणिपुरी लिपियों का विकास हुआ है। कैथी लिपि बिहार में प्रचलित है। इसका प्रयोग भोजपुरी और मगही बोलियों को लिखने में होता है। यह नागरी से काफी मिलती-जुलती है। पहले इसमें छपाई भी होती थी पर अब इसका स्थान नागरी ने ले लिया है। इसका प्रचलन धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। मैथिली लिपि का प्रयोग मैथिली बोली लिखने में किया जाता है। इसको तिरहुती भी कहते हैं। इसका प्रयोग प्रायः मैथिल ब्राह्मणों तक सीमित है।

बंगला लिपि का विकास पूर्वी भारत में हुआ है। सातवीं शती में जो लिपि इस ओर प्रचलित थी उसका स्वतंत्र विकास प्रायः दो सौ वर्षों तक होता रहा और दसवीं शती में इस प्रकार मध्यवर्ती देवनागरी लिपि का प्रभाव पड़ा और प्राचीन-बंगला लिपि का

विकास हुआ।[1] इस लिपि में हस्तलेख आदि मिलते हैं। प्राचीन बंगला लिपि से आधुनिक बंगला लिपि का विकास सोलहवीं शती के आसपास हुआ है। बंगला लिपि में वर्णों की संख्या, उनका क्रम आदि सभी देवनागरी के ही समान है।

बंगला से विकसित अन्य लिपियाँ

आसामी लिपि बंगला से ही विकसित हुई है। इसका उपयोग आसामी भाषा लिखने में किया जाता है। यह प्रायः बंगला लिपि से मिलती जुलती है, केवल कुछ ही वर्णों में अन्तर है। इसके अतिरिक्त उड़िया का विकास भी बंगला लिपि से ही हुआ है परन्तु तेलुगु के प्रभाव से इसके अक्षर कुछ अधिक वर्तुलाकार हो गए हैं। इसके दो रूप हैं—(१) ब्राह्मनी, जिसका प्रयोग धार्मिक ग्रंथों के लिखने वाले ब्राह्मण लोग करते हैं और जिसमें अधिकांशतः ताड़पत्र में लिखे हुए लेख मिलते हैं। (२) करनी लिपि का उपयोग दस्तावेजों तथा अन्य कागज पत्रों के लिखने में होता है। इसके विकसित करने वाले कायस्थ हैं और उन्हीं में इसका अधिक प्रचार भी है। बंगला लिपि से ही सत्रहवीं शती में मणिपुरी लिपि का विकास हुआ था, जिसका उपयोग मणिपुरी भाषा के लिए होता रहा है। अब तो इसका प्रचलन बहुत कम हो गया है। नेवारी लिपि का उपयोग नेवारी भाषा के लिखने में होता है। यह भी बंगला से ही विकसित मानी जाती है। इसका प्रचार भी बहुत कम हो गया है और दिन प्रतिदिन घटता जा रहा है।

देव नागरी लिपि

सातवीं शताब्दी के आसपास सम्पूर्ण मध्यदेश, राजस्थान, एवं महाराष्ट्र में जिस लिपि का प्रचार था वह देवनागरी का प्राचीन

---

१. जर्नल ऑव द रायल एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल—भाग ४-१६३८, पृष्ठ ३५१-३६१

स्वरूप माना जाता है। इसके 'देवनागरी' नाम पड़ने का क्या कारण है, इस विषय में विद्वानों के विभिन्न विचार हैं। कुछ लोगों के अनुसार इसका संबंध गुजरात के नागर ब्राह्मणों से रहा है और उन्हीं के नाम पर यह नागरी कहलाई। कुछ लोगों का विचार है कि उस युग में तांत्रिक मंत्रों में कुछ कोणीय चिन्ह बनाए जाते थे, जो 'देवनागर' कहलाते थे; इन चिन्हों से मिलते-जुलते अक्षरों से युक्त होने के कारण इसका नाम भी देवनागरी पड़ गया। कुछ अन्य लोगों की धारणा है कि इसका संबंध 'नगर' से है। वस्तुतः नगर के शिष्ट पढ़े-लिखे लोग इसका उपयोग करते थे और चूँकि यह देव-भाषा के लिखने के काम में आती थी अतएव इसका नाम देवनागरी पड़ गया। जो भी हो, इस लिपि का पूर्णतया विकास दसवीं शती तक हो चुका था। इसके प्राचीनतम लेख तो सातवीं, आठवीं शताब्दी तक के मिलते हैं। उस समय सम्पूर्ण मध्यदेश, गुजरात, राजस्थान, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि में इसका ही बोलबाला था। दसवीं शताब्दी से आज तक इसका स्वरूप प्रायः वही है।

देवनागरी से विकसित लिपियाँ

इससे कुछ स्थानीय लिपियों का भी विकास हुआ है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के लगभग इससे गुजराती लिपि का विकास हुआ। इसमें नागरी लिपि से बहुत अधिक अन्तर नहीं है। गुजराती में शिरोरेखा नहीं लगाई जाती। साथ ही कुछ अक्षर भी नागरी लिपि से भिन्न मिलते हैं, परन्तु यह भिन्नता अधिक नहीं है। महाजनी या मुड़िया लिपि का विकास भी इसी नागरी से हुआ है। इसका प्रयोग राजस्थान के, विशेषतः मारवाड़ के, व्यवसायी वर्ग के लोग बहीखातों और हिसाब-किताब में करते हैं। इतना ही नहीं सम्पूर्ण उत्तर में फैले हुए मारवाड़ी व्यापारी अपना हिसाब-किताब और बहीखाता इसी लिपि में रखते हैं। इसमें स्वर प्रायः नहीं लिखे जाते और

इसके पढ़ने में दुरूहता और अस्पष्टता की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है।

देवनागरी लिपि का उपयोग आजकल पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, मराठी तथा बिहारी भाषा-भाषी प्रदेशों में तो होता ही है; पहाड़ी बोलियों एवं मुण्डा परिवार की भाषाओं के लिखने में भी होता है। राष्ट्र भाषा हिन्दी की लिपि होने के कारण स्वतंत्र भारत में इसका प्रचार नित्यप्रति बढ़ता जा रहा है। वैसे भी इसने धीरे-धीरे राष्ट्रलिपि का रूप धारण ही कर लिया है, यह सभी स्वीकार करते हैं।

देव नागरी लिपि की विशेषताएँ

(१) देव नागरी अर्ध-अक्षरात्मक लिपि है।

(२) इस लिपि में ४८ मूल चिह्न हैं—१४ स्वर और सन्ध्यक्षर तथा ३४ मूल व्यंजन। ये व्यंजन सात वर्गों—कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य, अन्तस्थ और ऊष्म—में विभाजित हैं।

(३) इस लिपि में वर्गों की सजावट और उनका क्रम नितान्त वैज्ञानिक है। इसमें उच्चारण-स्थान के क्रमानुसार कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठों से उच्चरित होने वाले व्यंजनों को पाँच वर्गों में रखा गया है।

(४) स्वरों में केवल ए, ओ को छोड़कर सभी के ह्रस्व और दीर्घरूप के लिए चिह्न वर्तमान हैं।

(५) स्वरों के लिए मात्राएँ निश्चित हैं, जो व्यंजनों स्वरों के संयोग के समय प्रयुक्त होती हैं।

(६) स्पर्श और स्पर्श-घर्ष में सभी अघोषों के सघोष रूप और सभी अल्पप्राणों के महाप्राण वर्तमान हैं। इसी प्रकार सभी वर्गों की अनुनासिक ध्वनियों के लिए अलग-अलग लिपि-चिह्न हैं।

(७) इसमें ठीक वैसा ही लिखा जाता है, जैसा उच्चरित होता है।

(८) सभी लिपि-चिह्नों के नाम वही हैं, जिन ध्वनियों के लिए वे प्रयुक्त होते हैं।

इसलिए किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं हो सकती। ऐसा नहीं है कि 'अ' ध्वनि के लिए प्रयुक्त चिह्न 'a' को 'ए' कहा जाय, या 'इ' के लिए प्रयुक्त 'i' को आई।

(९) प्रत्येक ध्वनि के लिए एक ही निश्चित प्रतीक है। ऐसा नहीं कि 'क' के लिए k और c दोनों का उपयोग हो जाय, जैसे (cat-कैट, kin-किन)

(१०) इस लिपि में केवल वही संकेत लिखे जाते हैं, जो उच्चरित होते हैं। मौन-वर्णों (silent letters), जैसे kinght में 'k', लिखने की सी अवैज्ञानिकता नहीं है।

(११) संस्कृत भाषा लिखने की एकमात्र माध्यम होने के कारण यह निखिल-भारतीय-लिपि बन गई है। सम्पूर्ण देश में लोग इससे परिचित हैं। इसके प्रचार और प्रयोग से देश की एकता तथा भारतीय भाषाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान के महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध किए जा सकते हैं।

देवनागरी लिपि की त्रुटियाँ

इन सब बातों के होते हुए भी इसमें कुछ त्रुटियाँ बताई जाती हैं। ये त्रुटियाँ निम्न हैं—

(१) 'ख' का प्रतीक कभी-कभी 'र' और 'व' का भ्रम उत्पन्न करता है।

(२) लिखावट में ऊपर नीचे मात्रा, रेफ आदि के विधान के कारण कुछ जटिलता आती है।

(३) अधिक संख्या में वर्ण होने के कारण तथा मात्रा आदि का

विधान होने के कारण शीघ्रलेखन, टंकण, मुद्रण आदि में अधिक समय लगता है और कुछ उलझन भी होती है।

(४) पूर्णतः वर्णात्मक न होने के कारण इसमें ध्वनियों का पूर्णतः विश्लेषण नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ 'गया' शब्द में चार ध्वनियाँ हैं—ग्, अ, य्, आ। नागरी में तीन प्रतीक 'ग', 'य' और 'ा' ही प्रयुक्त होते हैं। रोमन लिपि जो पूर्णतः वर्णात्मक है, इस कार्य में अधिक सफल होती है, जैसे 'gaya' में चारों ध्वनियाँ अलग-अलग हैं। परन्तु रोमन में अन्य दृष्टियों से इतनी अधिक कमियाँ हैं कि वह देवनागरी के समकक्ष नहीं रखी जा सकती।

(५) संयुक्ताक्षरों को लिखने में कठिनाई होती है, क्योंकि इसमें कभी-कभी तो वर्णों के आधे रूपों को लिया जाता है, और कभी-कभी वर्णों का नया रूप ही सामने आ जाता है, जैसे—'क्ष' के लिए 'क्ष'। साथ ही संयुक्ताक्षरों के लिखने में कभी-कभी वे ध्वनियाँ, जो उच्चरित बाद को होती हैं, लिखी पहले ही जाती हैं, जैसे 'प्रेम' में 'र्', द्रोह में 'र' आदि।

देवनागरी लिपि में सुधार

देवनागरी लिपि की ये कमियाँ ऐसी नहीं हैं कि हम इनके लिए अपनी उस लिपि का परित्याग करने की बात सोचें,[1] जो वैज्ञानिकता

---

१ देवनागरी के स्थान पर रोमन लिपि के वर्णों को (संशोधित रूप में ही सही) अपनाने के पक्ष में प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। देखिए—

(i) जर्नल ऑव द डिपार्टमेंट ऑव लेटर्स, कलकत्ता वि० वि०—भाग २७—सन् १९३५ में डा० चाटुर्ज्या का लेख—Roman Alphabet for India.

(ii) भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—अध्याय ८

की दृष्टि से इस समय संसार की सर्वश्रेष्ठ लिपि मानी जाती है। इन त्रुटियों की ओर देश के विज्ञ एवं विद्वान् लोगों का ध्यान निरन्तर जाता रहा है और समय समय पर लोगों ने इसमें कुछ सुधार करने के लिए सुझाव दिये हैं। इस दिशा में सर्वप्रथम १९३५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने एक नागरी-लिपि-सुधार उपसमिति का निर्माण किया था। इस उपसमिति के प्रमुख सुझाव निम्न थे :—

(१) इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर अ में ही इनकी मात्राएँ लगाकर अ की बारहखड़ी काम में लाई जाय। नई बारहखड़ी इस प्रकार हो—अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, अो, औ, अं, अः।

(२) अ, ञ, ण के स्थान पर **अ, झ, ण** का प्रयोग हो और मूर्धन्य पार्श्विक ळ भी अपना लिया जाय।

(३) संयुक्ताक्षर उच्चारण-क्रमानुसार लिखे जाँय, अर्थात् प्रेम के स्थान पर प्रेम, इन्द्र के स्थान पर इन्द्र, द्वारका के स्थान पर द्वारका आदि।

(४) संयुक्ताक्षर 'क्ष' के स्थान पर 'क्ष' का प्रयोग हो।

(५) मात्राएँ ऊपर या नीचे, अनुस्वार अनुनासिक चिह्न आदि वर्णों से हटकर आगे की ओर लगाए जाँय, जैसे—देवता, कुटिल, ह°स, हंसना आदि।

(६) अनुस्वार के लिए एक शून्य '°' और अनुनासिक के लिए एक बिन्दु '॰' का प्रयोग हो, जैसे - ह°स, हंसना आदि।

(७) 'ख' के स्थान पर गुजराती 'ख' प्रयोग में लाया जाय।

(८) जिन वर्णों के अन्त में पाई 'ा' हैं उनसे संयुक्ताक्षर बनाने में 'ा' हटाकर संयोग हो। जहाँ ऐसा न हो वहाँ आधे वर्ण से एक चिह्न '—' संयुक्त किया जाय। 'क' और फ का संयोज्य रूप 'क' और 'फ' ही बना रहे।

ये सुझाव राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने अपनाए परन्तु अन्यत्र इन्हें न अपनाया गया। इसके बाद १९४५ में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने भी इस दिशा में कुछ प्रयास किया परन्तु वह भी सफल न हो सका। देश के स्वतंत्र होने पर सरकार का ध्यान भी इस ओर गया और १९४७ में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में उत्तर प्रदेश सरकार ने एक समिति एतदर्थ बनाई। १९४८ में केन्द्रीय सरकार ने भी हिन्दी-शीघ्रलिपि तथा लेखन-यंत्र-सुधार-समिति गठित की। दोनों समितियों ने मिल जुलकर काम किया और इसकी रिपोर्ट १९४९ में प्रस्तुत की गई। इस समिति की रिपोर्ट की मुख्य बातें ये थीं—

(१) मात्राएँ ऊपर या नीचे, थोड़ा हटा कर दाहिनी ओर लगाई जाँय।

(२) अनुस्वार के लिए '०' और अनुनासिक के लिए '॰' का प्रयोग हो। ङ्, ञ्, ण्, म्, न् के लिए, जहाँ प्रतिकूलता न हो '०' का ही प्रयोग किया जाय।

(३) खड़ी पाई युक्त व्यंजनों का संयुक्ताक्षर में प्रयोग खड़ी पाई निकालकर हो और अंत में बिन पाई वाले व्यंजनों में हलन्त लगाया जाय, जैसे—राष्ट्र्।

(४) अ के स्थान पर अ, ध के स्थान पर ध, भ के स्थान पर भ और र के स्थान पर 'न' का प्रयोग हो। क्ष के स्थान पर 'क्ष' और त्र के स्थान पर त्र का प्रयोग हो। नए व्यंजन ळ को स्वीकार कर लिया जाय।

इसके उपरान्त उत्तर प्रदेश सरकार ने सभी राज्यों के मुख्य मंत्रियों, शिक्षा मंत्रियों तथा चुने हुए विद्वानों की एक सभा १९५३ ई० में की। उसमें उपर्युक्त सभी सुझाव प्रायः स्वीकार कर लिए गए। इसमें 'ख' के स्थान पर 'ख' का प्रयोग स्वीकार किया गया, 'ज्ञ' को स्वीकार किया गया, 'इ' की मात्रा दाहिनी ओर ही स्वीकार की गई

परन्तु उसकी पाई आधी रखी गई, जैसे 'ह्रीन्दी'। संयुक्ताक्षरों के विषय में सम्मेलन वाले सुझाव माने गए। यह लिपि सभी प्रदेशों में स्वीकार की जाय, यह भी तय हुआ पर ऐसा हुआ नहीं। केवल उत्तर प्रदेश में बेसिक कक्षाओं की पुस्तकें इसमें छापी गईं। इन सुधारों का बड़ा तीव्र विरोध हुआ और फलतः अभी १६, २० अक्टूबर, ५७ ई० को पुनः एक प्रान्तीय सम्मेलन हुआ जिसमें अपने पुराने निर्णयों पर उत्तर प्रदेश सरकार ने पुनः विचार किया और निम्न परिवर्तन किए—

(१) 'इ' की मात्रा पुनः व्यंजन के पूर्व बाँई ओर लगाई जाय।

(२) संयुक्ताक्षरों के विषय में संशोधन के पूर्व की जो प्रचलित पद्धति है, उसे ही स्वीकार किया जाय।

(३) मात्राएँ आदि हटकर नहीं, वरन् व्यंजन के ऊपर ही लगाई जायँ। कहने का तात्पर्य यह है कि १६५३ ई० के संशोधनों में से सभी प्रमुख संशोधनों को समाप्त कर दिया गया और दो एक सामान्य परिवर्तनों के अलावा प्रचलित पद्धति का स्वरूप प्रायः अक्षुण्ण रखा गया।

जहाँ तक देवनागरी लिपि की वास्तविक कमियों को दूर करने की बात है, हमारे विचार में किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति को इसमें आपत्ति न होगी कि लिपि में यथोचित सुधार या संशोधन कर लिया जाय। परन्तु यह सुधार यदि केवल सुधार मात्र के उद्देश्य से किया जाय और इससे लिपि का स्वरूप एवं सौन्दर्य विकृत हो जाय, यह किसी भी विचारवान् व्यक्ति को सह्य और ग्राह्य न होगा। सुधार वस्तुतः उतना ही होना चाहिए, जितने की अनिवार्य आवश्यकता हो और जिससे लिपि की वैज्ञानिकता, सौन्दर्य और सर्वाङ्गपूर्णता को क्षति न पहुँचे। लिपि के अनुसार यंत्रादि का निर्माण किया जाना चाहिए, न कि यांत्रिक अनुरोध के लिए हम अपनी लिपि को विकृत कर लें और उसकी वैज्ञानिकता और सुन्दरता को आवश्यकता के

नाम पर बलि दे दें। अतएव लिपि विषयक कोई भी सुधार इस बात को ध्यान में रखकर ही होना चाहिए। साथ ही, यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि लिपि-सुधार की सफलता तभी सम्भव है, जब जनता उसे अपनावे, क्योंकि इसका संबन्ध तो सम्पूर्ण साक्षर जन-समूह से है। आवश्यकता इस बात की है कि जनता को विश्वास में लेकर सुधार किया जाय और उतना ही किया जाय जितना उसे ग्राह्य हो सके।

परिशिष्ट

सहायक ग्रंथ–सूची

१. ऋक्संहिता
२, कौषीतकि ब्राह्मण
३. ताण्डव ब्राह्मण
४. यास्क—निरुक्त
५- पाणिनि—अष्टाध्यायी
६. पतंजलि—महाभाष्य (निर्णय सागर सं०)
७. भर्तृहरि—वाक्य पदीय
८. भट्टोजि दीक्षित—सिद्धान्त-कौमुदी
९. वरदराज—लघु सिद्धान्त-कौमुदी
१०. भरत मुनि—नाट्यशास्त्र (काव्यमाला सं०)
११. भामह—काव्यालंकार
१२. दण्डी—काव्यादर्श
१३. रुद्रट—काव्यालंकार (नमिसाधु टीका सहित)
१४. वररुचि—प्राकृत प्रकाश
१५. चण्ड—प्राकृत लक्षण
१६. मार्कण्डेय—प्राकृत-सर्वस्व
१७. हेमचन्द्र—प्राकृत-व्याकरण
१८. पुरुषोत्तम देव—प्राकृतानुशासन
१९. अश्वघोष—शारिपुत्रप्रकरण
२०. कालिदास—विक्रमोर्वशीयम्
२१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण
२२- धम्मपद

२३. अब्दहमाण—संनेहय रासक
२४. पण्डित दामोदर—उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्
२५ विद्यापति—कीर्तिलता
२६. ज्योतिरीश्वर ठाकुर—वर्ण रत्नाकर
२७. सी० एम० घोष (सम्पादित)—प्राकृत पैंगलम्

हिन्दी ग्रंथ (अकारादि क्रमानुसार)

१. अग्रवाल, डॉ० सरयू प्रसाद—प्राकृत विमर्श
२. उपाध्याय, भरत सिंह—पालि साहित्य का इतिहास
३. ओझा, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द—भारतीय प्राचीन लिपिमाला
४. काश्यप, भिक्षु जगदीश—पालि महाव्याकरण
५. खन्ना, गोपाल लाल—हिन्दी का सरल भाषा-विज्ञान
६. गुरु, कामता प्रसाद—हिन्दी व्याकरण
७. गुलेरी, पं० चन्द्रधर शर्मा—पुरानी हिन्दी
८. चाटुर्ज्या, डॉ० सुनीति कुमार—भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी
९. चाटुर्ज्या, डॉ० सुनीति कुमार—राजस्थानी भाषा
१०. तिवारी, डॉ० उदय नारायण—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास
११. तिवारी, भोला नाथ—सामान्य भाषा-विज्ञान
१२ तेस्सितोरी, डॉ० एल० पी०—पुरानी राजस्थानी (हिन्दी अनुवादक, नामवर सिंह)
१३. दास, डॉ० श्याम सुन्दर—भाषा रहस्य भाग १
१४. दास, डॉ श्याम सुन्दर—हिन्दी भाषा
१५. दास, डॉ० श्याम सुन्दर—भाषा-विज्ञान
१६. पाण्डेय, पं० चन्द्रबली—उर्दू का रहस्य

१७. पाण्डेय, पं० चन्द्रबली—उर्दू की ज़बान
१८. पाण्डेय, पं० चन्द्रबली—भाषा का प्रश्न
१९. बाजपेयी, पं० किशोरीदास—हिन्दी निरुक्त
२०. बाजपेयी, पं० किशोरी दास—राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण
२१. मेहरोत्रा, राममूर्ति—लिपि विकास
२२. मेहरोत्रा, राममूर्ति—भाषा-विज्ञान-सार
२३. वर्मा, डॉ० धीरेन्द्र—हिन्दी भाषा का इतिहत्स
२४. वर्मा, डॉ० धीरेन्द्र—ब्रज भाषा
२५. व्यास, डॉ० भोला शंकर—संस्कृत का भाषा-शास्त्रीय अध्यमन
२६. सक्सेना, डॉ० बाबूराम—दक्खिनी हिन्दी
२७. नामवर—हन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग
२८. सिंह, शिव प्रसाद—कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा

ENGLISH BOOKS (in alphabetical order)

1. Bhandarkar, Sir R. G.—wilson's Philological Lectures (incorporated in Bhandarkar Works, Vol. IV).
2. Bloch, Jules – The Grammatical Structure of Dravadian Languages.
3. Bloch, B. and Trager, G. L.—Outlines of Linguistic Analysis.
4. Bloomfield, Leonard—Language.
5. Bühler,—On the Origin of Indian Brahma Alphabet.
6. Carrol, John, B.—The Study of Language.
7. Caldwell, Robert—Comparative Grammar of the Dravadian Languages.

8. Chatterjee, Dr. Suniti Kumar—Origin and Development of the Bengali Language.
9. Diringer, David—Alphabet.
10. Gardiner, A. H.—Speech and Language.
11. Grierson, G. A.—Linguistic Survey of India. Vol. I, Pt. I, Vol. VI, Vol. IX, Pt. I.
12. Gune, Dr. P. D.—An Introduction to Comparative Philology.
13. Jackson—Avesta Grammar.
14. Keith, Dr. A. B.—A History of Sanskrit Literature.
15. Kellog, S. H.—Grammar of the Hindi Language.
16. Macdonell, A. A.—Vedic Grammar.
17. Mehendale, M. A.—Historical Grammar of Inscriptional Prakrits.
18. Saxena, Dr. Babu Ram—Evolution of Avadhi.
19. Sen, Dr. Sukumar—Comparative Grammar of the Middle Indo-Aryan Languages.
20. Scholburg, H. C.—Concise Grammar of the Hindi Language.
21. Tagare, G. V.—Historical Grammar of Apabhramsa.
22. Taraporewala, I. J. S.—Elements of the Science of Language.
Wackernagel—Altindische Grammatik, Vol .I.

24. Whitney, W.—Sanskrit Grammar.

अन्य सहायक सामग्री

1. Proceedings and Transactions of All India Oriental Conference, Lucknow, 1951.
2. Indian Linguistics, Vols. XVI and XVII.
3. Indian Historical Quarterly (Calcutta), 1938.
4. Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal, Pt. IV, 1938.
5. Journal of the Deptt. of Letters, Calcutta University—Pt. 27—1935.